गिजुभाई-ग्रंथमाला

स्वर्गीय श्री गिजुभाई बधेका की बाल-जीवन और बाल-शिक्षण से सम्बन्धित गुजराती की छोटी-बड़ी कुल पन्द्रह पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद हिन्दी में **'गिजुभाई ग्रंथमाला'** के नाम से प्रकाशित होने लगे हैं। अब तक दस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके नाम यों हैं :—

प्रकाशित पुस्तकें	मूल्य, रुपयों में
1. दिवास्वप्न	8.00
2. माता-पिता से	8.00
3. माता-पिता के प्रश्न	6.00
4. मां-बाप बनना कठिन है	8.00
5. मां-बापों की माथापच्ची	8.00
6. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा	8.00
7. शिक्षक हों तो	8.00
8. बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया	8.00
9. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां	10.00
10. प्राथमिक शाला में शिक्षक	15.00

प्रकाशित होने वाली पुस्तकें

11. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा
12. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
13. मोण्टीसोरी-पद्धति
14. कथा-कहानी का शास्त्र
15. चलते-फिरते

इन पुस्तकों के लिए अपना मांग-पत्र नीचे लिखे पते पर भेजिए :—

श्री मंत्री, मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति, राजलदेसर

पो. राजलदेसर, 331 802, जिला—चूरू (राज.)
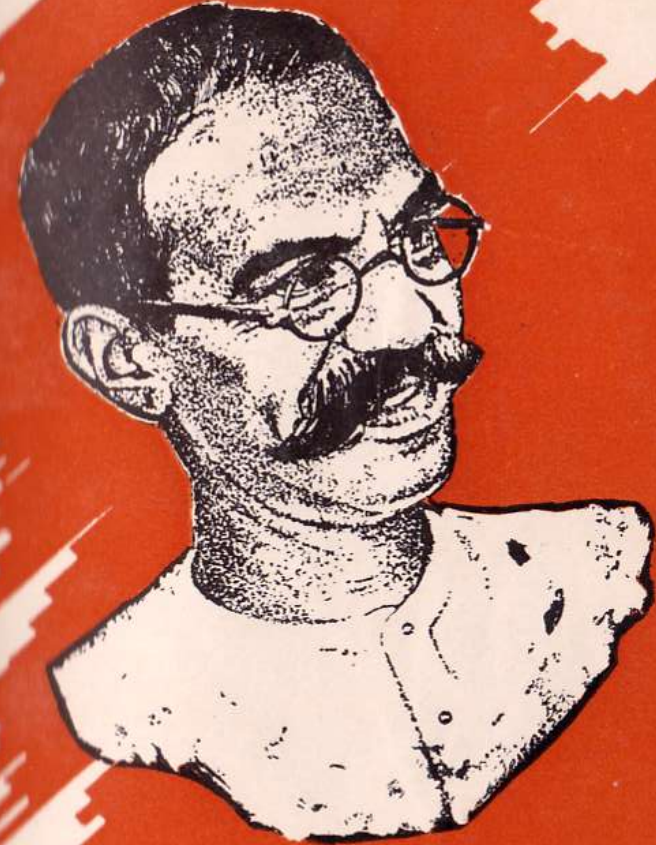
गिजुभाई-ग्रंथमाला–10

प्राथमिक शाला में शिक्षक

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331 802

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
श्री पाबूदान सिंह
निदेशक, टैगोर विद्या भवन
बनीपार्क, जयपुर

प्रकाशन-वर्ष : 1988
प्रतियां : 1,100
मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्य-शाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूं कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मै चाहता हूं कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक **प्राथमिक शाला में शिक्षक** के प्रकाशन का व्यय भार जयपुर के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहरी रुचि रखने वाले श्री पाबूदानसिंह ने सहर्ष वहन किया है। शिक्षकों-अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने हैं वे। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए राजस्थान के शिक्षाविद्, शिक्षक और विचारक श्री गिरधारीलाल व्यास का, और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूं। काशिनाथ जी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —**कुन्दन बैद**
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हल्का ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुःखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. माँ-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हल्का हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रंथमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्याराव,
इन्दौर—452 001

अपने शिक्षक भाइयों के नाम

मैं भी आप लोगों में से ही एक हूं। हमारे इस व्यवसाय के सम्बंध में, हमारे चारित्र्य और हमारी उन्नति के सम्बंध में अलग-अलग समय में मैंने जो विचार किये थे, उन्हें आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं।

इस पुस्तक को पढ़कर आपको इसे अमल में लाना है। अमल में लाने के साथ ही हमारी हर तरह की दुर्दशा का अंत हो जाएगा। मेरा विश्वास है कि अगर हम अध्यापकगण लगातार दस वर्षों तक शिक्षण की साधना करेंगे तो हम अपने देश में एक नया युग लाने में सफल हो सकेंगे।

हम लोग आज के दलितों में से ही हैं। दलितों के उत्थान का विहान हो चुका है। जिस उत्साह व उमंग से दुनिया के दलित कूच कर रहे हैं, उसी जोश से हमें भी आगे बढ़ना है। खोने को तो हमारे पास है भी क्या ! सब कुछ पाना ही पाना है।

अपने आप में विश्वास और ईश्वर में श्रद्धा रख कर अगर हम कदम बढ़ायेंगे तो आगे हमारी विजय ही होगी।

१९-११-१९३२

—गिजुभाई

तैयार हो जाओ

कुछेक माह पूर्व मैं एक गांव में चला गया। एक छोटे-से कमरे में एक अध्यापक कोलियों के लड़कों को पढ़ा रहा था। उसके मुंह में गालियां थी और हाथ में बीड़ी के पत्ते और जर्दा था। गालियां निकालते-निकालते और बीड़ियां बनाते-बनाते वह लड़कों को गिनती सिखा रहा था।

पूछने पर पता चला कि वह अध्यापक चार कोस की दूरी से पढ़ाने को आता था। पहले गांव में आटा मांगने जाता था, फिर शाला से सटा छोटा-सा होटल चलाता था और उसके बाद मोहल्ले-मोहल्ले जाकर लड़कों को पढ़ाता था।

बेचारे उस गरीब अध्यापक के घर में पत्नी समेत चार बच्चे थे। उनके भरण-पोषण के लिए वह ऐसा विचित्र जीवन व्यतीत करता था। उसकी दशा देख कर, उसकी पढ़ाने की रीति देख कर, प्रति माह एक-एक आना और रोजाना एक चुटकी भर आटा इकट्ठा करके जीवन यापन करने का उसका परिश्रम देख कर मैं तो स्तब्ध रहा गया, विचार-विमूढ़ और कर्त्तव्य-शून्य बन गया!

बड़े ही भारी हृदय से अवाक् बनकर मैं वहाँ से वापिस लौटा।

शिक्षक की ऐसी दशा मानने में नहीं आती, फिर भी यह एक सचाई है और दुखद स्थिति है। ऐसे एक नहीं अनेक अध्यापक हैं, जो गरीबी की पीड़ा से दुखी हुए इसी तरीके से पेट भरने को फांफें मारते हैं और विद्यार्थी का तथा अपना जीवन भयंकर रूप से बिगाड़ कर जबर्दस्त अपराध करते हैं।

अगर समाज को इस नुकसान का पता चला होता तो ऐसे अध्यापकों को कभी का हटा दिया होता और उनके स्थान पर अच्छे शिक्षकों को लगा दिया होता। ऐसा अध्यापन कर्म करने वाले को उसने अपराधी माना होता और कानून को भंग करने के लिए समुचित नसीहतें दी होतीं। पर वर्तमान समाज जिस तीव्र गति से अधोगति की तरफ दौड़ा जा रहा है, उसे न इस तरफ सोचने-विचारने का अवकाश है, न उस तरफ। ऐसे बधिर समाज से ऐसी आशा रखना व्यर्थ है!

तो अब क्या करें? अत्यंत अनमोल बालक अयोग्य अध्यापकों के हाथ में पड़ते हैं और हीन-शिक्षकों का भोग बन जाते हैं, इसका क्या करें? अध्यापक बनने का जिनमें एक भी गुण नहीं है वे अध्यापक बन बैठें और इस पवित्र प्रवृत्ति को कलंकित करें तो इसका क्या उपाय? और अध्यापक की, भले ही वह योग्य हो या न हो, आर्थिक दशा का क्या करें?

इसका एक ही उत्तर है और वो यह कि अध्यापकों को स्वावलंबी बनना है, अपनी शक्ति को उन्हें बढ़ाना है, अपनी योग्यता को प्रमाणित करके दिखाना है, अपने पद की महत्ता को राज व समाज से मनवाना है तथा अपनी आर्थिक दशा का उद्धार करना है।

यह युग स्वाधीनता का, स्व-शक्ति का, संगठन का है अगर व्यक्ति स्वाधीन भावना से सशक्त बनकर संगठन नहीं बनाएगा तो नष्ट हो जाएगा। लाखों की संख्या में बिखरे हुए शिक्षको! आज आप लोग अलग-अलग हैं, पराधीन दशा में हैं, अपने व्यक्तित्व को

आपने पहचाना नहीं, अभी आप संगठित नहीं हुए, इसी कारण आपकी आर्थिक व सामाजिक दशा दयनीय व दुखद है।

आज के इस युग का अवलोकन तो करके देखो। प्रत्येक कामगर मंडल संगठित है। संगठन के बल पर वे अपने अधिकारी, सेठ या राजा से जो चाहे हासिल कर सकते हैं। अगर वैसे नहीं मिलता तो वे सत्ता की सेवा-चाकरी करने से साफ इन्कार कर देते हैं। आज ऐसा करना अधर्म नहीं अपितु जीवन का परम धर्म है। यह बात तत्त्ववेत्ता भी स्वीकारते हैं।

गुलामों को स्थायी गुलामी में रखने वालो! वफादारी का शास्त्र आज खुला पड़ा है, सेवा की थोथी भावना दंभियों व स्वार्थी जनों द्वारा निर्मित की गई है। पूरी दुनिया से अब यह बात छिपी रहने वाली नहीं कि शक्ति, सामाज्य व पूंजी के अधिपति अपने जीवन सुख के लिए कामगरों को भरमाकर किस प्रकार से चूसते आए हैं। वर्तमान इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि दीन, दुखियों, बुभुक्षितों, प्रपीड़ितों को मिल-जुल कर इस स्थिति को, सत्ता के जुए को उखाड़ फेंकना चाहिए। अपने ही बल की स्थापना करो। समानता के अधिकार प्राप्त करो और सांसारिक सुखों के बराबरी के उपभोक्ता बनो। शिक्षको! नया युग आपको यह संदेश दे रहा है। क्या आप इसे अंगीकार करोगे?

लेकिन हम लोग दुनिया को यूँ डराने की स्थिति में कहां हैं? दुनिया से अपने अधिकार मांगने से पहले हमें अपनी उपयोगिता को प्रमाणित करके दिखाना होगा। अब तक हम अनुपयोगी-से ही रहे हैं। तभी तो समाज ने हमें निष्क्रिय पशु की भांति निकम्मा समझा है। हमने अपनी शक्ति का परिचय नहीं दिया। यही कारण है कि हम पोथी-पंडित या 'मास्टर' की स्थिति से ऊपर नहीं उठ सके। हमने समय-असमय अपने ही हृदय का दैन्य बता-बता कर अपनी दीन-दशा को अधिक दीन बनाया है। हमीं ने चंद टुकड़ों के लिए यत्र-तत्र भटकने वाले प्राणियों की भांति अपने पवित्र व्यवसाय का गौरव समझे बिना पैसों के लिए न जाने कहां-कहां और किन-किनकी दहलीजें तोड़ी हैं और पैसे वालों की इच्छाएं मूक पशुओं की भांति पूरी की हैं।

संगठित होने से पूर्व हमें अच्छे शिक्षक बनने का कर्त्तव्य निभाना होगा। जब हम अधिकारों की मांग करने खड़े होंगे तो सामने से योग्यता का सवाल खड़ा होगा। यह योग्यता हासिल करके ही हमें बाहर निकलना है। अभी हम निंदा से, सामाजिक परंपरागत जीवन-व्यवहार से तथा आलस्य से मुक्त होकर शिक्षा-शास्त्र के ग्रंथों का अध्ययन करने नहीं बैठे। पेट से भूखे रह कर भी ईश्वर को सिर-माथे रखकर सच्ची भावना से हम गरीबों और धनिकों के बच्चों को समभाव से नहीं पढ़ाते। उच्च अधिकारियों की खुशामद या निंदा से मुक्त होने का अभी हमने विचार तक नहीं किया। विद्यालय में राजा की तरह तन कर बालकों को पीटने में तथा अधिकारी के समक्ष झुक-झुक कर 'जी हां', 'हां जी', करने में ही हमने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। ऐसा करेंगे तो कौन पूछेगा हमें? कौन हमारे व्यक्तित्व का मोल करेगा? और कौन हमें स्थान प्रदान करेगा? फिर भी ऐसी दशा में अगर हम अपना संगठन बनाएंगे तो वह कैसा विचित्र और हास्यास्पद बनेगा, इसका हर कोई अंदाज लगा सकता है।

अतएव सबसे पहले हमें तैयार होना चाहिए, याने विद्या की उपासना करनी चाहिए, कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए तथा निर्भयता अर्जित करनी चाहिए। तैयार होने का मतलब है अपनी पताका ऊंची फहरा कर दुनिया के समक्ष यह घोषणा करना कि

जब तक हमें मान्यता नहीं देंगे, हमें मामूली समझेंगे, हमें पेटू मानेंगे, हमें पोंगा-पंडित ही समझेंगे, हमें छोकरे रमाने वाला या सागसब्जी लाने वाला घर का गुमाश्ता समझेंगे तब तक हम उनके बालकों को नहीं पढ़ायेंगे। जो पढ़ाना चाहें, आएं और भले ही पढ़ायें। बस, हम उन्हें नहीं पढ़ायेंगे। हमारी योग्यता को जब तक स्वीकृति नहीं मिलती, हम शिक्षण मात्र को बन्द कर सकते हैं। अगर हम अपनी शक्ति को अर्जित करेंगे तो कभी ऐसा भी दिन आएगा कि जब एक ही आवाहन पर सम्पूर्ण शिक्षक-वर्ग एकाएक विद्यालयों से बाहर निकल आएगा और स्वतः ही पढ़ाई की हड़ताल हो जाएगी।

उस दिन माता-पिताओं और उच्चाधिकारियों को पता लगेगा कि शिक्षण-कर्म कितना कठिनाई-युक्त और महत्त्वपूर्ण कर्म है। वे लोग चाक पर मिट्टी का लौंदा रख कर बर्तन बनाने से तो रहे! उनके बच्चे घर और गली में उपद्रव करेंगे, शोर मचायेंगे, उन्हें चुप रखने को दिये गए लालच का अधिक समय तक असर पड़ेगा नहीं, उन्हें अनुशासित-व्यवस्थित रखने का पुलिस-खर्च बहुत भारी पड़ेगा, और बालकों की दुनिया में सड़ांध, रोग, अज्ञान व अंधकार बढ़ेगा, सो अलग!

उस दिन आप विनम्रता से कहना : 'दुनिया में हमारा जो योग्य स्थान है उसे पहले स्वीकार किया जाए। हमारे व्यवसाय की पावनता को सम्मान दिया जाए। हमारे जीवन-व्यवहार के स्वाभाविक धर्मों का पालन करने हेतु हमें वांछित द्रव्य-सम्पत्ति प्रदान की जाए।' वह दिन दुनिया में एक स्वर्णिम दिन होगा, क्योंकि उस दिन मनुष्यों में सर्वोत्तम मनुष्य, याने गुरु की विजय होगी। उस दिन प्रवृत्तियों की श्रेष्ठतम प्रवृत्ति याने अध्ययन-अध्यापन की स्थापना होगी। उस दिन फिर से एक बार मानव जीवन कल्याण के मार्ग पर चलने लगेगा।

इसके लिए हमें तैयारी करनी है। दीन-हीन होने के बावजूद हमें अपने स्वत्व एवं सम्मान को संभाल कर रखना है, खाने को भरपेट न मिलने पर भी हमें सन्नद्ध होकर शिक्षण-कार्य की सेवा करनी है।

हम अध्यापक हैं अतः अध्ययन-अध्यापन कर्म वाले पुराकालीन ऋषि-मुनियों के वंशज कहलाते हैं। हमारा ध्येय त्याग एवं प्रेम होना चाहिए। हमारे आचार निर्मल एवं निर्भय होने चाहिए। हमारे विचार शुद्ध एवं उदात्त होने चाहिए। पामरों के प्रति हमें मोह नहीं होना चाहिए। शांति एवं सुखपूर्वक जीवन जीने के हमारे धर्म एवं अधिकार होने चाहिए। हमें समाज के सामने, धनवानों तथा सत्ताधीशों के सामने इसलिए उठने की जरूरत नहीं है कि हम भी उनके जैसे सुखोपभोग के रोग पालना चाहते हैं। बल्कि हमें तो उनके विरुद्ध खड़े होकर उन्हें और उनके बालकों को उन रोगों से बचाना है। हमारी समानता उनके पतनोन्मुख वैभव के साथ नहीं होनी चाहिए, बल्कि हमारी समानता की लड़ाई एक इंसान के नाते अपने सम्मान के लिए होनी चाहिए—भविष्य में संसार के सभी प्राणियों को बराबरी की समानता दिलाने के लिए होनी चाहिए। इसके लिए हमारे भावी जीवन की कल्पना हमारे लिए विशाल भवन नहीं अपितु शांत कुटिया, अपरिमित धन-वैभव नहीं अपितु शरीर एवं मन की शांति प्रदान करने योग्य धन-सम्पत्ति होनी चाहिए। बल्कि इससे भी बढ़कर संतोष होना चाहिए। शरीर एवं मन को प्रति क्षण सुख और दुख देने वाले बिलास का वैभव हमें नहीं चाहिए, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाने वाले साधनों की विपुलता हमारे पास

होनी चाहिए। हमें संसार को जीने का मार्ग दिखाना है, न कि सांसारिक जीवन के कदमों पर चल कर हमें सुख-दुख का पात्र बनना है। हमें सांसारिक जीवन की परेशानियों में पीड़ित होने के लिए नहीं जाना है, अपित उनसे मुक्त रहते हुए संसार को उनसे बचाना है और इसके लिए हमें अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना है, अपना स्वास्थ्य सुधारना और संघर्ष करना है।

शक्ति बढ़ायेंगे और संगठन बनायेंगे तो हमारी जीत निश्चित है। तभी हमारी दरिद्रता, दुर्बलता व गुलामी का नाश हो पाएगा।

—गिजुभाई

प्रस्तावना

गिजुभाई, जैसे वे स्वयं थे उसी के अनुरूप वे भारत के शिक्षक की प्रतिमा का निर्माण करने के मिशन में निमग्न थे। शिक्षक आत्मसात करे बालक के व्यक्तित्व की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को, आत्मगौरव प्राप्त करे बालक-बालिका के गौरव की सुरक्षा और उसके विकास में, अपने स्वातंत्र्य की अनुभूति करे उसकी स्वाधीनता अथवा उसके स्वावलंबन की प्रवृत्ति को सजाने-संवारने में; और स्वयं का नियमन करे उसको सहज रूप से स्वयमेव नियमित करने में। जिस वातावरण की पृष्ठभूमि जॉन लॉक, रूसो, पेस्टालॉजी, फ्रोबेल और टॉलस्टाय ने तैयार की थी और जिसे मेरिया मोंटेसरी ने एक वैज्ञानिक नवाचार दिया उसे भारतीय धरती पर संकल्पबद्ध होकर विकसित किया 'मूछोंवाली मां' गिजुभाई ने। वे एक ऐसे अनुपम भारतीय बाल-शिक्षाप्रज्ञ थे जो बालशिक्षण को किसी चौखटे तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि उसे सामाजिक पुनर्रचना के माध्यम के रूप में व्यवहृत हुआ देखना चाहते थे। उनका जीवन इसी संरचना के प्रयोग में सर्वतोभावेन समर्पित रहा।

प्राथमिक शाला में शिक्षक शीर्षक से ही प्रमाणित हो जाता है कि यह पुस्तक प्राथमिक शालाओं में कार्यरत शिक्षकों के लिए लिखी गई है। इसमें लेखक ने अपने सहज स्वभाव के कारण अधिकतर संबोधन-उद्बोधन की संवाद-शैली का प्रयोग किया है, जैसा कि संस्कृत साहित्य की अनेक प्राचीन रचनाओं में किया जाता रहा है। शैली के कारण यदि इसे प्राथमिक शाला शिक्षकों की गीता कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। भाषा प्रवाहमयी, भाव प्रेरणादायक और उसकी चेतना विचारोत्तेजक। शिक्षक की यथातथ्य स्थिति

की आधारशिला पर खड़ी की गई यह संरचना अपने युग का एक उत्कृष्ट नमूना है।

प्राथमिक शाला का शिक्षक आर्थिक दृष्टि से इतनी दयनीय स्थिति में पहुंच जाता है कि उससे बाल कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। गिजुभाई के शब्दों में 'शिक्षक की ऐसी दशा मानने में नहीं आती, फिर भी यह एक सच्चाई है और दुखद स्थिति है। ऐसे एक नहीं अनेक अध्यापक हैं, जो गरीबी की पीड़ा से दुखी हुए इसी तरीके से पेट भरने को फांकें मारते हैं और विद्यार्थी का तथा अपना जीवन भयंकर रूप से बिगाड़ कर जबरदस्त अपराध करते हैं।' इस स्थिति को सहज करने का उपदेश गिजुभाई नहीं दे रहे, बल्कि वे शिक्षकों से कहते हैं कि इस स्थिति से मुकाबला करने के लिए 'तैयार हो जाओ', क्योंकि अगर व्यक्ति 'स्वाधीन भावना से सशक्त बनकर संगठन नहीं बनायेगा तो नष्ट हो जायगा।' अतः वे शिक्षक को संगठित होने के लिए प्रेरित करते हैं कि 'आज के इस युग का अवलोकन करके देखो। प्रत्येक कामगर-मंडल संगठित है। संगठन के बल पर वे अपने अधिकारी, सेठ या राजा से जो चाहे हासिल कर सकते हैं। अगर वैसे नहीं मिलता तो वे सत्ता की सेवा-चाकरी करने से इन्कार कर देते हैं। आज ऐसा करना अधर्म नहीं अपितु जीवन का परम धर्म है। यह बात तत्ववेत्ता भी स्वीकारते हैं।... सेवा की थोथी भावना दंभियों व स्वार्थीजनों द्वारा निर्मित की गई है।'

गिजुभाई के अनुसार हमारी समानता की लड़ाई एक इंसान के नाते अपने सम्मान के लिए होनी चाहिए— भविष्य में संसार के सभी प्राणियों को बराबरी का दर्जा दिलाने के लिए होनी चाहिए। यदि हम शक्ति बढ़ाएंगे और संगठन बनाएंगे तो हमारी जीत निश्चित है तथा हमारी दरिद्रता-दुर्बलता व गरीबी का नाश हो जाएगा। हमें पोंगा-पंडित या मास्टर मात्र बनकर नहीं जीना होगा, बल्कि सत्ता के जुए को दूर फेंक कर एक सम्मान-पूर्ण जीवन जीकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होगा। हम ऐसे दलित हैं कि इस संघर्ष में हमारे पास खोने को है ही क्या, जबकि पाने को सब कुछ है।

वे समस्या उभारते हैं कि तब फिर 'शिक्षक क्या करें ?' और 'हमारे में व्याप्त रूढ़िवादिता को कैसे तोड़ा जाए ?' उनका जोर इस बात पर है कि शिक्षक अस्पृश्यता के भूत को दूर भगाने के लिए शिक्षा के माध्यम से पहल करें। शिक्षालयों का भी यह प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए कि शिक्षा के माध्यम से ऊंच-नीच का भेदभाव समाप्त हो और प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार मिलें। आदर्श शिक्षक अपने आप में एक ऐसी जाति होनी चाहिए जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की परंपरागत विशेषताओं का समन्वय होगा। ज्ञान, तेज, समृद्धि और सेवा का सूत्रबद्ध समावेश होगा। शिक्षक के आदर्श का केन्द्रबिन्दु होना चाहिए उसमें निहित बाल-मनोविज्ञान का उसका स्पष्ट ज्ञान, और साथ ही उस मनोविज्ञान के ज्ञान को व्यवहार में उतारने का उसका चरित्रबल। शिक्षक को शिक्षाशास्त्र का गहन अध्ययन करना चाहिए। उसके हर पहलू पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और अपने सुविचारित निष्कर्ष निकालकर तदनुसार प्रयोग चालू करने चाहिए। हमारे विद्यालयों में क्या होना चाहिए और किसका निषेध होना चाहिए—इस पर गिजुभाई ने स्पष्ट संकेत दिए हैं। शारीरिक और बौद्धिक विकास में संतुलन बनाए रखने के लिए श्रम और शास्त्रीयता का अभ्यास एक साथ दिया जाना चाहिए।

'प्राथमिक शाला में शिक्षक' पुस्तक को गिजुभाई ने षट्कोणीय योजना के अंतर्गत संगठित किया है यथा — आदर्श, कर्त्तव्य, चारित्र्य, गांव के अध्यापकों से, शिक्षक की तन्दुरुस्ती और प्रकीर्ण। वे लगातार बालमंदिर के शिक्षकों से मुखातिब होते हैं। जब वे शिक्षकों के साथ उनके व्यवसाय के संबंध में विचार करते हैं तो कहते हैं कि 'शिक्षक का व्यवसाय समाज-जीवन, समाजशास्त्र और समाज के भविष्य का निर्माण करने वाला व्यवसाय है।' शिक्षक उसे बनना चाहिए जो अपने शिक्षण-कार्य को धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन के साथ समन्वित कर सके। शिक्षक को शिक्षा के लिए अविराम परिश्रम करना चाहिए अर्थात् एक मिशन के रूप में अपनाना चाहिए। जब तक शिक्षक का शिक्षा के प्रति अटूट प्रेम नहीं होगा, तब तक वह नवनिर्माण नहीं कर सकेगा। श्रद्धा, श्रम और एकनिष्ठता ही शिक्षण कार्य की सफलता की गारंटी है।

प्राथमिक शाला के शिक्षक को मोंटेसरी पद्धति को समझने और उसे लागू करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि 'मोंटेसरी पद्धति का मूल बाल-सम्मान में निहित है। जिसे मनुष्य के विकास की चिंता हो उठी, मनुष्य के उद्धार में जिसका हृदय द्रवित हो उठा, मनुष्य जीवन जैसी अमूल्य वस्तु को जिसने अनेक मताग्रहों, परंपराओं और शिक्षा की बेड़ी से जकड़ी हुई देखकर संपूर्ण पद्धति के विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह छेड़ दिया, उसके हृदय से जन्मी है वह, उससे और उसके अपार श्रम से ही उसकी देह निर्मित हुई है।' प्राथमिक शिक्षक के माध्यम से जब छात्रों में मनुष्यता आएगी तो सभी कुछ आएगा। इसके लिए स्वयं शिक्षक में उत्साह, उद्योग, त्याग भावना और अपने व्यवसाय में गौरव की अनुभूति का होना नितांत आवश्यक है।

गिजुभाई बच्चे पर गुस्सा करने को शिक्षा-विरोधी प्रवृत्ति मानते थे। शिक्षक को शांत और गंभीर होना चाहिए। शांति और गंभीरता प्रसन्नता के विरोधी नहीं होते। शिक्षक का चेहरा सदैव प्रसन्नमुद्रा में रहना चाहिए। उसे कभी क्रोध और मारपीट का सहारा नहीं लेना चाहिए। यदि भूलचूक से मारपीट की नौबत आ जाय तो शिक्षक को 'तपश्चर्या' करनी चाहिए, उपवास रखना चाहिए और हर प्रकार के भोग का त्याग करना चाहिए।

शिक्षक का सबसे बड़ा धर्म यह है कि वह सभी जातियों के बालकों की सेवा करे। उसे सेवाभाव से जीना है। उसे दूसरों को बंधनमुक्त करने के लिए जीना है। दूसरों को स्वतंत्रता का, स्वाधीनता का अधिकार दिलाने के लिए जीना है, क्योंकि 'सच्चा विकास स्वतंत्रता में निहित है। स्वतंत्रता माने नियमन। सच्चा मनुष्य स्वाधीन होता है, पराधीन नहीं। दूसरों पर भरोसा करके चलने वाली उधार की बुद्धिवाला नहीं, बल्कि अपनी मौलिक बुद्धिवाला, परावलंबी नहीं बलिक स्वावलंबी।' इसके साथ ही शिक्षक राष्ट्रीय जागृति का वाहक होगा, वह बच्चों में देशप्रेम की भावना पैदा करेगा, वह बच्चे में श्रम के प्रति सम्मान की भावना पैदा करेगा, वह स्वयं श्रम में भागीदार होगा और नित नए विषयों पर नए-नए प्रयोग करने वाला होगा। वह नूतन भावनाओं का बीजारोपण करेगा।

हमें बच्चों के स्वास्थ्य की ओर समुचित ध्यान देना होगा। दवाखानों के भरोसे बच्चों को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता। गिजुभाई की सलाह है कि दवाखानों को तो बंद ही कर देना चाहिए। प्रकृति के अंचल में ही स्वस्थ जीवन जिया जा सकता है। हमें प्रकृति पर पूरा भरोसा करना चाहिए और बच्चों को उसके अधिकाधिक निकट लाना चाहिए। दूसरी ओर शालाओं को जेलखानों की तरह नहीं रहने दिया जा सकता। यदि बच्चे को सुधारने का तरीका जेलखाने की सजा का तरीका होगा और यदि शालाएं जेलखाना बनी रहेंगी तो हम बच्चों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास की कल्पना नहीं कर सकते। अच्छाई को ग्रहण करना और बुराई के खिलाफ संघर्ष करना ही हमें सिखाना है। यही प्रगतिशील चरित्र का केन्द्र बिन्दु है। क्या हम शिक्षा से नौकरशाही या गुलामी पैदा करना चाहेंगे? नहीं, इसलिए हमें अंग्रेजी शासन द्वारा दी जाने वाली इस प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध जिहाद बोलना होगा। यदि हम ऐसे करेंगे तो हमारी शिक्षा, शिक्षक और छात्र मुक्त वातावरण में फले-फूलेंगे, और तब हमारी शिक्षा पद्धति के विरुद्ध बालक का व्यक्तिगत विद्रोह नहीं होगा।

गिजुभाई की धारणा के अनुसार 'गांव में रहने वाले शिक्षक को अज्ञान और स्वार्थ दोनों से संघर्ष करना है। शिक्षण का प्रकाश फैलने के साथ ही स्वार्थी व्यापारी, झाड़ा-फूंकी करने वाले ओझा, जोगी-जती आदि दुःखी होंगे और वे शिक्षक के विरुद्ध तरह-तरह के प्रपंच रचेंगे। इन सबके बावजूद शिक्षक को दृढ़ रहना है, उन सबकी उपेक्षा करनी है और अपना काम करते रहना है।' क्योंकि 'गांव में जाकर गांव के दुख-दर्द मिटाने के लिए बहुत धीरज से काम लेना चाहिए। जब एक काम पूरा हो जाय तभी दूसरा काम शुरू करना चाहिए।' शिक्षा में वांछित परिवर्तन करवाने के लिए गिजुभाई गांव के शिक्षक से अपेक्षा रखते हैं कि वह ग्रामवासियों को बताए कि वैसा परिवर्तन लाने के लिए वे आन्दोलन करें। शिक्षक स्वयं भी उन परिवर्तनों के लिए अपने विचार सर्वत्र फैलाये।

गांव के अध्यापकों के लिए फुर्सत में करने के कामों के विषय में गिजुभाई ने सलाह दी है कि 'दो-चार अध्यापक मिलकर विद्यार्थियों के

लायक स्वदेशी चीजों का भंडार खोल सकते हैं; बाल-साहित्य के प्रकाशन का सहकारी मंडल चला सकते हैं; विद्यार्थियों को भौगोलिक प्रवास पर ले जा सकते हैं; अच्छे-अच्छे प्रदर्शन आयोजित करके विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि कर सकते हैं। ये सब काम उद्योग की दृष्टि से सोच-विचार कर किए जाएं तो दो पैसे कमाये जा सकते हैं।' तथा वे कामना करते हैं कि 'मनुष्य में एक-मात्र बुद्धि एवं हृदय की शुद्धि होनी चाहिए— इसी की ज़रूरत है। यह भावना शिक्षक में अवतरित हो।'

वे चाहते थे कि जो व्यक्ति एकल-अध्यापकीय पद्धति के अन्तर्गत कार्यरत हैं, उन शिक्षकों को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उसके साथ जो मार्गदर्शक अथवा निरीक्षक नियुक्त किए जायें, वे प्रेरणा देने वाले और हर प्रकार से उसे सहायता देने वाले होने चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि शिक्षक अपने काम को बहुत अच्छी तरह सम्पन्न कर सकेगा। शिक्षक का दायित्व होगा कि वह यथाशक्य अपने विद्यालय को सुन्दर बनाए। विद्यालय को गिजुभाई मानसिक जीवन का शरीर मानते हैं। विद्यालय चाहे जैसा भी हो, वह हमारा होता है। हमारे में उसके प्रति ममता होनी चाहिए। यह होगी तो हम उसे भीतर और बाहर दोनों तरफ से खूबसूरत बनाने में लगे रहेंगे।

गिजुभाई का आह्वान है कि प्राथमिक शाला के शिक्षक स्वावलंबी बनें और बनाएं। हम अपने विवेक को विकसित करें, अपने पांवों पर खड़े रहें। हमारा कर्त्तव्य है 'बालकों की इन्द्रियों को विकसित करना, याने उन्हें अवलोकन करने की शिक्षा देना, उनकी मानसिक शक्तियों—यथा बुद्धिशक्ति, तुलनाशक्ति, तर्कशक्ति, निर्णयबुद्धि को विकसित करना, बालक को साहित्य-रसिक बनाना तथा भौगोलिक वस्तु में रुचि विकसित करना। यह सब काम ठेठ शिशु कक्षा में अथवा पहली कक्षा में हो जाना चाहिए। यही उनका आधारभूत शिक्षण है। इसी पर विषय-ज्ञान का भवन निर्मित होता है।'

शिक्षक के लिए ट्यूशन करना अशोभनीय कार्य है, क्योंकि 'ट्यूशन करने वाले अध्यापकों को लोग अपनी दुकान के गुमाश्ते से अधिक महत्त्व नहीं देते।' अतः ट्यूशन करने के बजाय वेतन बढ़ाने के लिए हमें विभाग से संघर्ष करना चाहिए।

शिक्षकों को अध्ययनशील होना चाहिए। शिक्षा संबंधी अच्छे लेखों को पढ़ना चाहिए। विभाग को चाहिए कि ऐसी पत्रिका प्रकाशित करे अथवा वह शिक्षकों को ऐसी पत्रिकाएं उपलब्ध कराए। पांच विद्यालयों के बीच एक पुस्तकालय-वाचनालय की व्यवस्था भी की जा सकती है जिससे शिक्षक अध्ययन करने का अवसर प्राप्त कर सकें। शिक्षकों को अपनी बाल्यावस्था को भी याद रखना चाहिए। हम अपनी बाल्यावस्था को याद करके आज के बालकों की बाल्यावस्था के प्रति आदर करना सीखेंगे।

निःसंदेह **प्राथमिक शाला में शिक्षक** नामक यह पुस्तक गिजुभाई की एक अनुपम अमर देन है। स्वतंत्र भारत की सरकार को चाहिए कि वह इसका देश की सभी भाषाओं में अनुवाद करवाकर इसे शिक्षक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दे।

हिन्दी जगत से इसका साक्षात्कार करवाकर इस कृति के अनुवादक श्री रामनरेश सोनी ने एक अत्यन्त प्रशंसनीय अनिवार्य कार्य संपादित किया है। इस अनुवाद से ऐसा लगता है मानो गिजुभाई ने इस पुस्तक की रचना हिन्दी में ही की हो। क्रमबद्धता, प्रवाह, वातावरण, उतार-चढ़ाव और प्रभावोत्पादता का ज्यों का त्यों निर्वाह बन पड़ा है, साथ ही मूल लेखक की भावना और चिंतन को पाठकों के हृदय और मस्तिष्क तक पहुंचाने में श्री सोनी पूर्णतः सक्षम रहे हैं। इस सफल और सार्थक प्रयास का हिन्दी भाषा-भाषी अवश्य अभिनंदन करेंगे। प्रत्येक प्राथमिक शाला में यह पुस्तक पहुंचे और प्रत्येक शिक्षक इसका अध्ययन मनन करे।

—गिरधारीलाल व्यास

छबीली घाटी, बीकानेर

अनुक्रम

आदर्श

1. आज के शिक्षक क्या करें ? 29
2. शिक्षक : एक जाति 42
3. शिक्षक कैसा होना चाहिए ? 51
4. शिक्षाशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता 57
5. हमारे विद्यालय में यह नहीं चलेगा 61
6. बाल मंदिर के शिक्षकों से 63

कर्त्तव्य

7. क्या करें ? 71
8. बाल मंदिर के अध्यापकों से 79
9. अध्यापक शाला कब छोड़े ? 92
10. हम किसके विरुद्ध लड़ें ? 94
11. शिक्षक की स्वीकारोक्ति 98

चारित्र्य

12. बाल मंदिर के शिक्षकों से 103
13 अपने व्यवसाय को विकसित करें ! 110
14. अध्यापक की प्रतिष्ठा 114
15. ऐसी होशियारी न करें 118

गांव का अध्यापक

16. गांव के शिक्षक से 123
17. फुर्सत में करने के काम 130
18. एकल अध्यापकीय पद्धति 133
19. गांवों का शिक्षक 150

शिक्षक का स्वास्थ्य

20. याद रखें 157
21. शिक्षक का स्वास्थ्य 158
22. अध्यापक की आवाज 166

प्रकीर्ण

23. अपने पैरों पर खड़े हों ! 175
24. निचली कक्षा का अध्यापक 178
25. ट्यूशन 182
26. अध्यापक क्या पढ़े ? 187
27. अध्यापक और उनकी अपनी बाल्यावस्था 191

प्राथमिक शाला में शिक्षक

आदर्श

आज के शिक्षक क्या करें ?

सन् 1898 की बात। इटली के टूरीन गांव में शिक्षाविदों का सम्मेलन आयोजित हुआ था। धुरंधर शिक्षाविद इकट्ठे हुए थे वहां। सम्मेलन का उद्घाटन-सत्र बड़ी ही धूमधाम से चल रहा था। पहला ही दिन था और 'नैतिक शिक्षा कैसे प्रदान की जाए' इस विषय पर विशद विचार-मंथन होने को था। सम्मेलन की कार्यवाही शुरू होते ही संभागियों के कान में एक आंदोलित कर देने वाला समाचार आया कि किसी इटलीवासी ने आस्ट्रिया की रानी एलिजाबेथ की हत्या कर डाली। किसी इटलीवासी के द्वारा यूरोप में यह तीसरा जघन्य कृत्य था। अखबारों में शिक्षाशास्त्रियों के विरुद्ध कड़े शब्दों में आलोचना छापी गई थी। पूरी जनता थरथरा उठी थी और जिस शिक्षा की वजह से ऐसा भयंकर परिणाम सामने आया था, उस शिक्षा के आयोजन-कर्त्ताओं को शाप देने लगी थी।

सम्मेलन के सम्भागियों के चेहरों पर शर्म की काली छाया फैल गई थी। वे विकट उलझन में पड़े थे। सभा में नीरव शांति छाई थी। उस समय मि. बेन्सीवनी ने 'नैतिक शिक्षा कैसे प्रदान की जाए' विषय पर बड़ा ही गम्भीर व सुन्दर भाषण दिया। उनके बाद डॉ. मेरिया मोंटेसरी ने अपना भाषण दिया। उन्होंने कहा : 'अगर हम यह बात अपने दिमाग में नहीं रखेंगे कि अनेक लोग ऐसे भी होते हैं जो भयंकर से भयंकर अपराध करने में

समर्थ हैं और वे सब विद्यालयी-शिक्षा से निकलने के बावजूद वैसे के वैसे रह जाते हैं, तो हम उन्हें नीति की शिक्षा देकर भी कभी नीतिमय नहीं बना पाएंगे । कई बालक ऐसे होते हैं कि जो हमारे उलाहने और डांट को न मानते हुए कक्षा के अनुशासन और नियमों के विपरीत आचरण कर बैठते हैं । ऐसे बालकों को अंत में विद्यालयों से निकाल दिया जाता है और परिणाम यह निकलता है कि वे बालक बड़े होते ही समाज के शत्रु बन जाते हैं और लोगों को आतंकित-त्रस्त करते हैं । अगर हमारी शिक्षा, हमारा नीति-बोध ऐसे बालकों तक न पहुंच सके, तो हमारी नीति-शिक्षा का कुछ भी अर्थ नहीं । अच्छे-भले बालकों के लिए तो नीति-शिक्षा का न कोई अर्थ है, न आवश्यकता । विद्यालय नामक संस्था अकेले अच्छे, भले, बुद्धिमान बालकों के लिए ही नहीं है अपितु हर तरह के बालकों के लिए है—यानी आने वाले कल के चोर, लुटेरे, हत्यारे बालक भी इनमें शामिल हैं ।'

इस व्याख्यान से शिक्षा-जगत् में एक नया प्रकाश विकीर्ण हुआ है । उस दिन से खास तौर पर शिक्षा के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक-दृष्टि का प्रवेश हुआ है और तभी से हमारी शिक्षा के आदर्शों एवं व्यवहार में जबर्दस्त बदलाव आने लगा है । उसी क्षण से शिक्षा में नवयुग का आगमन हुआ है । अब उस नवयुग के क्या-क्या मुख्य आदर्श हैं और उनके सम्बन्ध में वर्तमान शिक्षकों के क्या-क्या दायित्व हैं, उनका मैं यहां संक्षेप में उल्लेख करूंगा ।

: 1 :

जिस कारण से विद्यालयों में दी जाने वाली बौद्धिक शिक्षा से हमारे हृदयों को बल नहीं मिल पाया, जिस कारण से धार्मिक शिक्षा लेने के बावजूद भी हम में धार्मिक संकीर्णता विद्यमान रही है, जिस कारण से हम में मनुष्य-मनुष्य के बीच, धर्म-धर्म के बीच,

जाति-जाति के बीच और देश के विभिन्न राज्यों के बीच अभेद्य अलगाव उत्पन्न हो रहा है, उस कारण को, यानी हम में व्याप्त रूढ़िवादिता को कैसे तोड़ा जाए, यह प्रश्न वर्तमान शिक्षा के सामने विचारणीय है ।

शिक्षा प्रदान करने वाले लोग समाज के नेता हैं, वे समाज के स्मृतिकार हैं, समाज की जीवन-डोर उन्हीं के हाथ में है और समाज में कल्याणकारी कार्य करना भी उन्हीं के हाथ में है । आज का समाज एक अंधेरे कुएं में पड़ा सड़ रहा है । उसे वहां से बाहर निकाल कर स्वच्छ करना और उसका कल्याण करना शिक्षा-शास्त्रियों का परम धर्म है ।

आज का समाज मलिनता का शिकार है । उसने विवेक की मर्यादा को तोड़ डाला है । मलिनता एवं विवेक-भ्रष्टता से इसे बचाने का पुण्य-कार्य शिक्षाशास्त्रियों को ही करना है । अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक को दूर करने तथा समाज को निर्मल बनाने के लिए समाज के नेताओं यानी शिक्षाशास्त्रियों को आगे आना होगा । अस्पृश्यता के भूत को दूर भगाने के लिए उन्हें कोई युक्ति निकालनी होगी । शिक्षालयों का भी यह प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए कि शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार प्रदान करे । अगर जनता के थोड़े-से भाग के निमित्त शिक्षा के द्वार बंद रखे जाएंगे तो शिक्षा बंध्या ही रह जाएगी, और शिक्षा का यह उद्देश्य निष्फल ही रह जाएगा कि इसके द्वारा मनुष्य जीवन का सर्वांग सुन्दर विकास करना है और आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करनी है । बंधुत्व का प्रथम पाठ तो विद्यालय से ही मिलना चाहिए और उसे संकुचित या संकीर्ण भावना के बजाय उदार एवं स्वस्थ भावना-युक्त होना चाहिए । शिक्षाविदों को एक पाठ्यक्रम निर्मित करना चाहिए ताकि शालाओं में विद्योपार्जन करने वाले बालकों का समूह

इस पाप-रूढ़ि से स्वतः मुक्त हो जाए। विद्यार्थियों के भावी जीवन का निर्माण अधिकांशतया शालाओं में और उनसे सम्बद्ध छात्रावासों में होता है। ये स्थल लोक-रूढ़ि को पलटने, नयी रूढ़ि या नए विचारों के बीज रोपने तथा नयी कल्पना देने के प्रबल साधन हैं। शालाएं लोगों के बिना चल नहीं सकती, और शालाओं की डोर शिक्षा देने वालों के हाथ में रहा करती है।

अतः शिक्षाशास्त्रियों को सुधार के समस्त कार्य, नूतन भावनाओं के बीजारोपण का समस्त कार्य शालाओं में कर डालना चाहिए। भावी नागरिक हमारी शालाओं में तैयार होते हैं। अगर विद्यालय उन्हें नए आदर्शों से रंगते हैं, उनमें नवजीवन के विचार भरते हैं तो आने वाले कल का सूर्य अत्यन्त तेजस्विता के साथ उदित होगा। शाला-व्यवहार की सम्पूर्ण व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जो नागरिक पल रहे हैं उन पर नए विचारों व आदर्शों की सुस्पष्ट छाप अंकित हो, और देश का भविष्य उज्ज्वल हो।

:2:

विगत डेढ़ सौ वर्षों में हमें जो शिक्षा प्रदान की गई है उसने हमें सिर्फ बौद्धिक और तार्किक ही बनाया है। शिक्षा में उद्योगों की पढ़ाई को लेशमात्र स्थान नहीं था। परिणामतः हमारे हाथ, पैर, आंख, कान आदि लूले, अपंग व अशक्त बने रह गए। यही नहीं, पर इस अशक्ति के कारण ही, और दूसरी तरफ से सिर्फ बौद्धिक-विकास के कारण ही हम अपनी अशक्ति का—अपनी गुलामी का मानो अभिमान करने लगे और यह मानने-मनाने लगे कि काम करना (दूसरों के लिए या अपने लिए) घटिया से घटिया बात है। हमारे जैसे अभागे शिक्षितों ने ही लोगों के मन

में यह विचार ठसा दिया कि वे हाथ-पैर न हिलाएं, इसी में उनका बड़प्पन है और अन्य भले अनपढ़ लोगों ने किन्हीं और कारणों की अपेक्षा सिर्फ उक्त कारण से ही उन्हें बड़ा मान लिया। बौद्धिक शिक्षा भी हमें जो मिली वह भी आधी-अधूरी। सिर्फ स्मरण-शक्ति के बल पर तथा मात्र आंख के उपयोग द्वारा ही जो शिक्षा मिली, वह ऐसी मिली कि उससे वास्तविक लाभ तक न मिला। इस शिक्षा से महान अनुसंधानिक नहीं बने, महान योद्धा नहीं बने, विज्ञानवेत्ता नहीं बने, इंजीनियर, चित्रकार, शिल्पी या संगीतज्ञ नहीं बने। बने हैं तो मात्र कारकुन, मास्टर (शिक्षामर्मी नहीं); और ज्यादा से ज्यादा कुछ बने हैं तो वकील, बेरिस्टर, वैद्य, डॉक्टर–सब के सब हाथ पैरों की शिक्षा से रहित अपंग–सब के सब या तो नौकरी यानी गुलामी करके जीवन बिताने वाले, या फिर दूसरों को गुलाम बना कर जीने वाले!

अब जमाना बदल गया है। दुनिया भर के शिक्षाविदों की आंखें खुल गई है। सिर्फ इतिहास, भूगोल, भाषा ज्ञान या गणित से मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता, यह बात समझ में आ चुकी है। मनुष्य सिर्फ बुद्धि का पुतला ही बन कर रह जाए, ऐसा पामर बना रह जाए कि हाथ पैर चला भी न सके–ऐसे खयाल मात्र से आज के शिक्षाशास्त्री थरथरा उठे हैं। यह बात उनके दिमाग में आ गई है कि आज तलक बालकों को उद्योगों की शिक्षा प्रदान न करने का ही यह परिणाम है कि यह दुनिया नरक के समान बन गई है। उद्योगों की शिक्षा के बिना अब एक दिन भी नहीं चल पायेंगे हम, ऐसी गुहार सम्पूर्ण शिक्षित जगत् में मच उठी है। अब शिक्षाशास्त्रियों में भी दो मत नहीं रह गए कि जब तक हाथ-पैर और आंखों को अच्छी शिक्षा नहीं मिलेगी तब तक दिमाग की शिक्षा अधूरी व त्रुटिपूर्ण रहेगी। जो कुछ करने को रहा है, वह

बस काम करने को बचा है। शिक्षाविदों को पुराने विचारों से लड़ना है; सिर्फ बुद्धि को प्रतिष्ठा देने के विचार को समाप्त करना है; बुद्धि की शिक्षा के साथ हाथ-पैर की शिक्षा को समान दर्जा दिलाने के लिए आगे आना है; उन्हें लोक-मानस में इस विचार को स्थिर करना है कि जो व्यक्ति लूला है और जिसे कोई काम-काज करना नहीं आता, उन दोनों में कोई फर्क नहीं है; अपने हाथों पानी का लोटा न लेने वाला और लूला, दोनों एक समान हैं; इसी तरह अपने बूटों के कस्से न बांधने वाले और अपंग में कोई अंतर नहीं; इस भावना को फैलाने की आवश्यकता है।

अब ऐसे युग का शुभारंभ हो चुका है कि अब स्वयं अपना काम करना मनुष्य का पवित्र धर्म व अधिकार समझा जाएगा तथा दूसरों से सेवा-टहल लेने का कृत्य अत्यंत हेय दृष्टि से देखा जाएगा। ऐसे युग की तैयारी शिक्षाविदों को आज से ही शुरू कर देनी चाहिए। आज से ही सब विद्यालयों में उद्योग का शिक्षण दाखिल कर देना चाहिए। सब विद्यार्थियों को शाला के समस्त कार्यों में रुचि तथा भाग लेने को प्रेरित कर देना चाहिए। आज ही से प्रत्येक बालक को मृत्यु-पर्यन्त शारीरिक श्रम के गौरव का पाठ पढ़ाना चाहिए और काम करने को बालक तैयार हो सके इसके लिए उसकी शक्ति को विकसित करने का कार्य शुरू कर देना चाहिए। शिक्षण-पद्धति में ऐसे परिवर्तन किये जाने चाहिए जिसके परिणामस्वरूप बालक स्वावलम्बी, स्वतंत्र तथा भावी प्रजा का सुन्दर अंग बना रहे। बुद्धि-बल तो सिर्फ लोक-कल्याण के लिए व्यवहार में आता है, पेट भरने के लिए तो शरीर-बल ही काम आएगा, यह भावी युग की भावना है। बुद्धि-बल का मोल न लिया जाए। परमार्थ के लिए ही इसका उपयोग होना चाहिए। शरीर के द्वारा शरीर का पोषण करना आने वाले कल का आदर्श

है। आदर्शहीन लोगों में ऐसी भावना निभ नहीं सकेगी, यह तय है। अत: ऐसे समय को ग्रहण करके लाने की तैयारी आज से ही शुरू करने का शिक्षाविदों का दायित्व है।

: 3 :

आज की दुनिया पैसे के पीछे छटपटा रही है। पैसा ही भगवान है और पैसा ही इस संसार का जीवन-सूत्र बन गया है। पैसे के लिए आज मनुष्य तरह-तरह के काम कर रहा है। पैसे के लिए वह अपना सर्वस्व तक खो देने को तैयार है। पैसे कमाने की प्रवृत्ति में मनुष्य मनुष्य नहीं रहा अपितु एक यंत्र बन गया है। सुबह से लेकर शाम तक एक इसी बात का ध्यान मनुष्य को रोके हुए है। सपने भी उसे पैसों के ही आते हैं। मनुष्य को रात में या दिन में एकाध क्षण के लिए भी वास्तविक शांति, सच्चा आराम शायद ही कभी मिल पाता होगा। 'भागो, भागो, पैसे के पीछे भागो।' यह स्थिति गांव में या शहर में, स्वदेश में या विदेश में सर्वत्र एक-सी है। और जहां ऐसी स्थिति नहीं होती, वहां भी लक्ष्मी-पूजक पहुंच ही जाते हैं, और वहां के लोगों की शांति एवं सुख में विक्षेप डाल कर उन्हें दुखी व बेचैन बना देते हैं। इस सब का कारण है हमारी अब तक की प्रचलित शिक्षा का स्वरूप !

हमारी वर्तमान शिक्षा में आध्यात्मिक शिक्षा का स्थान नहीं है। अगर है भी तो अल्पतम। सम्पूर्ण तन्त्र आधिभौतिक दृष्टि से रचा हुआ है। मनुष्य स्वार्थी बन गया, उसमें अहंभाव बढ़ गया, अहं-तुष्टि के लिए वह चाहे जितनी जहमत उठा सकता है लेकिन परमार्थ के लिए एक उंगली तक नहीं उठाता, स्पर्धा के कारण उसके जीवन का माधुर्य उड़ गया, सिर्फ अपने लिए ही जीवन जी रहा है वह, विलास तथा आराम के आदर्श ही उसे प्रिय लग रहे हैं—ये सब बातें अभी तक दी जाने वाली हमारी

प्रचलित शिक्षा के कारण ही हैं। एक तरफ़ गुरु-परम्परा वाली पद्धति समाप्त होने लगी है। आदर्श शिक्षक मिलने बंद हो गए। दूसरी तरफ जीवन को शिक्षा से अलग कर दिया गया तथा शिक्षा के द्वारा जीवन की जो तैयारी हुआ करती थी उसके आधार-रूप धार्मिक शिक्षण तथा धार्मिक जीवन का लोप हो गया है। तीसरी तरफ नंबर देने की, इनाम देने की, मनुष्य को स्पर्धालु बनाने आदि की कुरीतियाँ विद्यालयों में प्रविष्ट हो गई हैं। इनकी वजह से मनुष्य स्वार्थी, स्पर्धालु, आलसी, आरामतलबी और धर्महीन हो गया। यही कारण है कि सर्वत्र लक्ष्मी पूजन चल रहा है अभी। जीवन का उद्देश्य द्रव्य-प्राप्ति रह गया है। शिक्षाविदों को चाहिए कि धार्मिक जीवन, गुरु-परम्परा तथा आदर्शजीवी शिक्षकों को शिक्षा में अग्रिम स्थान प्रदान करें। उन्हें विद्यालयों से वे तमाम कुरीतियां उखाड़ फेंकनी होंगी, जिनके कारण वहां स्पर्धा उत्पन्न हो रही है। इसी प्रकार लोभ व लालच की तरफ़ मनुष्य के मन को आकृष्ट करने वाली तमाम पद्धतियों को भी उन्हें दूर करना होगा। मनुष्य जीवन का हेतु है आध्यात्मिक सुख—यह सिद्ध करने के लिए ही शिक्षा की योजना है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में से उक्त ध्येय-विरोधी तमाम बातों को निकाल बाहर करना है :

: 4 :

जब तक दुनिया में दवाखाने हैं, कैदखाने हैं, दीवानखाने हैं, तब तक हमने शिक्षा की दिशा में कुछ भी प्रयास नहीं किये, ऐसा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। शालाओं में सम्पूर्ण विकास न हो, शालाएं मनुष्य की नैतिक एवं शारीरिक दुर्बलताओं को दूर न करें, जिन-जिन कारणों से मनुष्य में पागलपन आता है, शालाएं उनका उन्मूलन न करें, तो ऐसी शालाएँ शाला

कहलाने की पात्र नहीं हैं। मात्र गणित, इतिहास या भूगोल जैसे विषय पढ़ाने वाली शालाएं वास्तविक शालाएं नहीं हैं। ऐसी पढ़ाई तो मनुष्य चाहे जहां से प्राप्त कर सकता है। ऐसी पढ़ाई से व्यक्ति का वास्तविक कल्याण नहीं होने वाला। ऐसी पढ़ाई से जेल-खाने, दवाखाने, पागलखाने कभी बंद होने वाले नहीं। ऐसी शिक्षा देने वाली शालाएं स्पष्टतया बुद्धिमान बालकों के लिए ही हैं। मूर्ख बालकों को आज की शालाएं पढ़ा नहीं सकतीं; चोर तथा हत्यारे बालकों को वे निकाल बाहर करती हैं; बीमार बालक तो इन शालाओं से ही तैयार होते है !

वस्तुत: शालाओं के प्रयासों से ही दवाखाने बंद होने चाहिए। वर्तमान शालाओं में आरोग्य की दृष्टि से व्यापक परिवर्तन किये जाने अपेक्षित हैं। शालाओं के भवन एकदम शहर से बाहर खुली हवा में होने चाहिए। यह संभव न हो तो गाँव के स्वच्छ मोहल्ले में खुले स्थान में भवन होना चाहिए। प्रत्येक भवन में हवा और प्रकाश पुष्कल चाहिए। उसके आसपास की जगह ऐसी होनी चाहिए कि जो शाला के शांत एवं पोषक वातावरण के लिए सह-योगी सिद्ध हो। उसके आसपास गंदगी नहीं होनी चाहिए। शाला भवन गाड़ी, घोड़े, ट्राम, मोटरों आदि के शोर से पर्याप्त दूर होना चाहिए। शाला को स्वच्छता का मंदिर होना चाहिए। भवन साफ किया हुआ हो, धूल-जालों से रहित। वहां की जमीन भी साफ-सुथरी होनी चाहिए। कहीं भी धूल न दिखे।

अधिकांश वर्तमान शालाओं में असह्य गंदगी अंटी रहती है; हवा, प्रकाश तथा स्वच्छता की कमी के कारण अनेक बालक दृष्टि-मंद, क्षयग्रस्त तथा दुबले हो जाते हैं, ऐसा डॉक्टरों का मत है। शाला का फर्नीचर भी बहुत खराब देखने में आता है। बेंचें और उन पर बैठने की जगहें बालकों की कमर की दुश्मन होती हैं।

बेंचों की निर्धारित जगहों पर बालकों को घंटों तलक बैठे-बैठे काम करना पड़ता है। इससे वे उकता जाते है, उनकी कमर झुक जाती है, उनके अवयवों में पक्षाघात-जैसा हो जाता है। पहला काम यह है कि शालाओं से ऐसे फर्नीचर को हटा दिया जाए। बेंचों की बजाय कक्षा में ऐसी हल्की मेजें हों, जिन्हें बालक स्वतः उठा सकें, हटा सकें और इच्छित स्थानों पर बैठ कर अध्ययन कर सकें। इस भावना का क्रियान्वयन होना चाहिए। प्रत्येक बालक को मेज के साथ-साथ एक आसन भी दिया जाना चाहिए। अपना आसन लेकर बालक चाहे जहां, चाहे जिस लड़के के साथ मिल-बैठकर अपना विकास कर सके, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए। वस्तुतः वर्तमान में बेंचों आदि की यह व्यवस्था कक्षा-शिक्षण यानी समूह-शिक्षण की वजह से है। अगर वैयक्तिक-शिक्षण पद्धति को व्यवहार में लाया जाए तो फर्नीचर संबंधी कितने ही सुधार अपने आप हो जाएं।

बालकों के पहनने के कपड़े कैसे हों और कितने हों, यह निर्णय भी शालाओं को ही करना चाहिए। कपड़ों को पहनने में बच्चों को दूसरों की सहायता लेनी पड़े या शौचादि के समय जिन्हें उतारने-पहनने में तकलीफ पड़े, ऐसी पौशाक दूर ही रखनी चाहिए। सभी कपड़ों के बटन सामने ही लगे हुए होने चाहिए। पीठ पीछे बटन लगे कपड़े, कमरबंद वाले कपड़े या संयुक्त कोट-पतलून वाले कपड़े बच्चों के लिए बहुत खराब होते हैं। ऐसी पौशाक शरीर-शास्त्र तथा सुविधा की दृष्टि से त्याज्य है। इस वक्त तो माता-पिताओं को व शालाओं को इसी बात पर विचार करना चाहिए कि बच्चे ऋतु के अनुकूल कपड़े पहनते हैं या नहीं, स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं या नहीं, आवश्यकता के परिमाण में वस्त्र पहनते हैं या नहीं, वे स्वतः कपड़े पहन व खोल सकते हैं या नहीं। शालाओं को

बालकों की पौशाक को लेकर माता-पिताओं से लड़ना भी पड़ सकता है। इस समय बच्चों की पौशाकें उनके लिए कितनी नुकसानदायी है, यह बात माता-पिता को समझानी पड़ेगी। गंदे व मैले वस्त्रों में व्याधि रहती है, यह बात माता-पिता के गले उतारनी पड़ेगी। माता-पिताओं को शाला में बुला कर उनका ध्यान आकृष्ट करना पड़ेगा कि कितने मैले-कुचैले बच्चे इकट्ठे होते हैं। बार-बार उपदेश देकर उन्हें बराबर समझाना होगा कि बच्चों को बदबूदार कपड़े हर्गिज न पहनाएं, उनके कपड़े फटे हुए न हो, आवश्यकता से अधिक कपड़ों का निरर्थक बोझ उनके कोमल बदन पर हर्गिज न लादें। ऐसी साधारण दिखने वाली बातें कितना भयंकर नुकसान कर डालती हैं। अगर यह बात माता-पिता के गले उतारने का काम शालाएं नहीं करेंगी तो आज के बालक और कल के नागरिक रोगों के उपद्रवों से मुक्त नहीं हो सकेंगे और परिणाम-स्वरूप तब तक दवाखाने बंद नहीं होंगे।

जिस तरह से शरीर के रोगों के लिए स्थान-स्थान पर दवा-खाने खुल गए हैं, उसी तरह मस्तिष्क व मन के रोगों के लिए जगह-जगह जेलखाने खुल गए हैं। अगर मन-मस्तिष्क के रोगों को मिटाने का काम भी शालाएं अपने हाथ में ले लें तो अल्प समय में ही आज की सब जेलें बंद हो जाएं। आज के शिक्षाविदों को यह चुनौती झेलनी है ताकि तमाम जेलखाने विद्यालय बन जाएं और कैदियों के बदले वहां आने वाले कल के अच्छे-भले-उपयोगी नागरिक तैयार होने लगें! हमारी शालाएं किस अंश तक जेल-खानों की जिम्मेदार हैं, यह सवाल भी हमारे लिए विचारणीय है। डॉ. मोंटेसरी कहती हैं, 'वस्तुतः हम हमारी मान्यताओं को बालकों पर लादने के लिए इनाम व सजा देने के दमनात्मक साधनों

का प्रयोग करते हैं । बालकों के मन में उनके लिए यह स्थिति जेल की प्रथम सजा जैसी है ।'

बालक की पहली जेल शाला है । शाला में उसे पढ़ाई के बहाने कैदी की तरह रखा जाता है । जब तक शालाओं से सजा को समाप्त नहीं किया जाएगा, जब तक बालकों के मानसिक रोगों को डॉक्टरी दृष्टि से दूर करने के शास्त्रीय प्रयोग नहीं किये जायेंगे, तब तक शालाएं जेलखाने बनी रहेंगी । सरकारी जेलखानों के लिए वे कैदी ही तैयार करेंगी । भले लड़कों के लिए शालाएं कुछ नहीं करतीं । अच्छे बच्चों के लिए शालाएं हैं भी नहीं, यह कहा जाए तो गलत न होगा । शाला का प्रयोजन ऐसे निर्बल बालकों के लिए ही है और उन्हें श्रेष्ठ नागरिक बनाने में ही शालाओं की खरी परीक्षा है ।

अब तक की शिक्षण-पद्धति सजा देने के दौरदौरे पर ही निर्मित रही है । सजा के दबाव तले बालक की शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उल्टे अपराध करने की शक्ति उभरने लगती हैं । सजा के भय की वजह से अपराध-वृत्ति प्रच्छन्न बनी रहती हैं, समूल नष्ट नहीं होती और बालक को शाला से कोई लाभ नहीं मिलता । कई बार ऐसा होता है कि बच्चे बीमार होते हैं और हमें लगता है कि वे कभी नहीं सुधरेंगे, और हम उन्हें सजा दे बैठते हैं, कि इस दवा से ठीक हो जाएंगे । अनेक बच्चे घर के वातावरण की वजह से या आनुवंशिक संस्कारों की वजह से रास्ते से अलग हटे प्रतीत होते हैं, उनके लिए भी हम वही इलाज काम में लाते हैं । ऊधम मचाने वाले बालक तो सजा के लिए ही जन्मे हैं, ऐसा मान बैठते हैं हम । पर, जिसे हम बालक का ऊधम मचाना कहते हैं वह अधिकतर तो हमारी शिक्षा-पद्धति के प्रति बालक का व्यक्तिगत विद्रोह होता है । अपराध-वृत्ति को सजा देकर कभी नहीं रोका जा सकता । फौज-

दारी-कानून की निष्फलता इस बात की गवाह है । मानसिक रोगों का उपचार कभी शारीरिक ताकत आजमाने से नहीं होता, इसका इलाज शिक्षा में समाहित है । यही बात इटली की प्रख्यात शिक्षाविद डॉ. मोंटेसरी कहती हैं । उनका यह कथन बहुत सही है कि ऐसे लोगों का इलाज हर हालत में एकमात्र शिक्षा ही है । सजा देना तो हमें बिल्कुल ही बंद कर देना चाहिए ।

□

शिक्षक : एक जाति

शिक्षक बंधुओ ! एक बात मैं आपके ध्यान में लाना चाहता हूं कि इस युग में हम शिक्षकों की एक नयी जाति बन रही है। यह जाति भावी युग की है पर इसका बीजांकुरण हो चुका है। कहीं यह बात हमारे ध्यान से चूक न जाए।

एक ब्राह्मण हमेशा यह याद रखता है कि वह कोली, कणबी, बनिया नहीं है अपितु केवल मात्र ब्राह्मण है, अतः कोली, कणबी वाले आचार उसके आचार नहीं हैं। इन लोगों के आचारों को अंगीकार करने में वह अपनी जातिगत भ्रष्टता मानता है। कभी भूले–चूके उसके स्वधर्म पालन में क्षति हो जाती है तो वह स्वेच्छया प्रायश्चित करता है। इसी तरह से हम शिक्षकों को भी सोचना चाहिए। हम भी चाहे ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों या शूद्र हों, या अस्पृश्य जाति के हों, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम शिक्षक जाति के हैं। हमारा भोजन-व्यवहार भले ही संकुचित या मर्यादित जन-समुदाय से चलता रहा हो, फिर भी हमें यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि एकमात्र शिक्षक जाति ही हमें संगठित रखने वाली जाति है। भले ही हमारा पुत्र-पुत्रियों का शादी-विवाह का काम किसी खास जन–समुदाय में ही होता आ रहा हो, पर हमें यह बात अपने ध्यान से कभी वंचित नहीं करनी चाहिए कि हमारा यह आचार-व्यवहार हमारी शिक्षक जाति के लिए अवरोधक नहीं होना चाहिए। हमारी जाति सब जातियों से अलग है और स्वतन्त्र है। इतनी सारी जातियों के होते हुए भी हमारी इस नयी जाति की अभिवृद्धि समाज के लिए अधिक भयानक नहीं होनी चाहिए। हमारा अस्तित्व ही समाज के कल्याण के लिए है।

हर जाति का अपना जाति-धर्म होता है, वैसे ही हमारी जाति का भी जाति-धर्म होना चाहिए। ब्राह्मण आदि सभी जातियों के भिन्न-भिन्न आचार सुविदित हैं, वैसे ही हमारे भी हैं। हमारी जाति की आज धुंधली-सी शुरुआत हुई है। आज यह बाल्यावस्था में है। इसका बीजांकुरण मात्र हुआ है, पर अल्पकाल ही में यह इतनी विशाल बन जाएगी कि जिसकी आज कोई कल्पना तक नहीं कर सकेगा। अन्य जातियों के बंधनों को हमारी यह नयी जाति तोड़ेगी नहीं, पर अपने वर्तुल को यह इतना व्यापक बनाएगी कि जिसमें अन्य जातियां भी सहजतया समा जाएंगी। यह हमारी जाति की और इसके आने वाले कल की कल्पना है।

आप सब इस जाति के सदस्य हैं। इसके आधारभूत अंगों के क्या-क्या धर्म हैं यह हमें स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए। इस धर्म के पालन में वही आगे आए जो साहसी हो। दूसरे सब इसे प्रसन्नता से छोड़ दें। कायरों को इसमें रहने की जरूरत नहीं है। यह जाति चारों जातियों की सिरमोर है। अध्ययन-अध्यापन के काम में ही इस जाति के धर्म की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। शिक्षण की महान संस्थाएं बनाना और उनका प्रबन्ध करना इसका वैश्य-धर्म है। समाज और राज के आक्रमण से मुक्त रह कर शिक्षण का कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक चलाने में इस जाति की क्षात्र-वृत्ति समाई हुई है। कोढ़ियों, अंधों और लूले-लंगड़ों से लेकर ठेठ उच्च कोटि के बालकों की उन्नति के लिए ही अपना जीवन व्यतीत करना इस जाति वालों की सेवा-बुद्धि निहित है, तथा अध्ययन और अध्यापन कार्य करने में ही इसकी ब्राह्मण-वृत्ति है।

हम लोग एक ही साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं और इसीलिए इन चारों वर्णों के परम धर्म हमारे अपने भी धर्म हैं। ब्राह्मणों का पढ़ने-पढ़ाने का धर्म, वैश्य का रिद्धि–सिद्धि बढ़ाने का धर्म, क्षत्रिय का संरक्षण धर्म और शूद्र का सेवा धर्म : ये हमारे धर्म हैं।

इन धर्मों में से दो धर्मों को प्रमुख धर्म कहा जा सकता है। मैं सेवा-बुद्धि को और क्षात्र-वृत्ति को शिक्षक के परम-धर्म मानता हूं। उसे ब्राह्मण से लेकर अस्पृश्य तक सभी जातियों के बालकों की सेवा के लिए जीना है, यही शिक्षक का परम एवं महान धर्म है।

स्वयं सामाजिक और राजकीय गुलामी से मुक्त रहकर दूसरों को मुक्ति दिलाना, शिक्षक का दूसरा, पर उतना ही महान धर्म है। अध्ययन-अध्यापन को हम तीसरा स्थान देंगे और चौथा स्थान रिद्धि-सिद्धि बढ़ाने को देंगे–यानी संस्थाएं स्थापित करना और साधन-सुविधाएं जुटाना।

हम साधन-सुविधा के बिना पढ़ा सकते हैं, विशाल भवनों के बजाय झोंपड़ियों में और खुले मैदानों में बैठ सकते हैं, यही नहीं हम भ्रमण करते हुए पढ़ाने का काम कर सकते हैं। अब तक जिस तरह का ज्ञान दिया गया है, उस ज्ञान का परिणाम हम देख चुके हैं। अगर वैसा ज्ञान हम न भी दें, या अल्प मात्रा में दें, तो चलेगा। लेकिन साधन-सम्पन्न बनने के लिए अथवा ज्ञान-प्रदान करने की अनुकूलता के लिए गुलामी नहीं स्वीकारेंगे। न ही सेवा-वृत्ति से विलग होकर हम अध्ययन-अध्यापन में अपनी सफलता मानेंगे। इसी कारण सेवा-वृत्ति और क्षात्र-वृत्ति को शिक्षक के कर्त्तव्य में प्रथम स्थान पर रखा गया है। आज तो जो मनुष्य समाज की सेवा कर सकता है, और समाज या राज के अत्याचार से स्वयं आजाद

रह कर दूसरों को आजाद रहने के लिए प्रवृत्त कर सकता है वही शिक्षक कहा जा सकेगा।

:1:

तो, हमारी जाति के सदस्यों का पहला कर्त्तव्य सेवा-भावना हुआ। सेवा भाव वाला शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से आज उन लोगों की सेवा करे, जिनका अध:पतन हो चुका हो, फिर शिक्षा क्षेत्र में जिन बालकों की सेवा-भावना उत्कट हो, उनमें सेवा-वृत्ति का पोषण करें, अभिवृद्धि करें। उनके लिए वर्तमान शिक्षण को अल्प उपयोगी माने। आज के अध्यापकों में इस वृत्ति का अभाव है, इसीलिए तो समाज में सच्चे सेवकों की संख्या बहुत कम हो गई है। शालाओं में भी आज के शिक्षकों के द्वारा सेवा भावना का पोषण नहीं हो रहा है। वे शिक्षा देने के बहाने सेवा-वृत्ति को जाग्रत-स्फुरित होने से रोकते हैं, उलझाते हैं और दबा देते हैं। वे सेवा वृत्ति को गति नहीं दे सकते। शिक्षकों की ऐसी वृत्ति उनके शिक्षण-कर्म में बाधा रूपी है। चलती हुई कक्षा में अगर कोई बालक गिर पड़े और दूसरा बालक उसे प्रेम से उठाने दौड़े तो कक्षा का अनुशासन भंग होने की आशंका से शिक्षक उसको रोक देता है। बस, वहीं बालक की सेवाभावी वृत्ति का निर्झर रुक जाता है, बल्कि कहना चाहिए कि सूख जाता है। हमारी सेवाभावी वृत्ति से जब बालक सेवाभावी बनें, तभी उसे सच्ची सेवाभावी वृत्ति कहा जा सकता है, और यह तभी संभव है, जब हम स्वयं सेवाभावी बनें। हमें हमारे जीवन की, हमारी शाला की, हमारे अध्ययन की ऐसी प्रणाली बनानी चाहिए ताकि उससे सेवा की भावना रात-दिन विकसित हो। इसके परिणामस्वरूप हमारे लिए गरीब और धनवान, निर्बल और सबल, मूर्ख और बुद्धिमान, स्पृश्य और अस्पृश्य–सभी तरह के बालक एक समान रहेंगे। ऐसी वृत्ति पैदा

होते ही निजी ट्यूशनें खत्म हो जाएंगी। पैसे वालों की निजी शालाओं के बजाय अंधे, लूले, लंगड़े, मंद-बुद्धि बालकों की शालाएं खुल जाएंगी। फिर शाला में उच्च, नीच, स्पृश्य, अस्पृश्य जैसा अंतर नहीं रहेगा।

शिक्षण में सेवावृत्ति का अर्थ खुशामद करना नहीं है। बालकों को समझा कर, फुसला बहला कर पढ़ाने की योजना सेवा-वृत्ति का परिणाम नहीं है। बल्कि, इसे तो गुलाम वृत्ति का नतीजा कहना चाहिए। शिक्षक को तो सेवक बनना है, गुलाम नहीं। पहले का शिक्षक गुलामों के सरदार जैसा था। विद्यार्थियों के साथ उसका संबंध सेठ और नौकर जैसा रहता था। इसके बजाय शिक्षक को एकाएक गुलाम बनकर विद्यार्थियों को सेठ नहीं बना देना है, अपितु उसे विद्यार्थी के साथ मित्र-भाव से दृष्टा बन कर रहना है। इस तरह शिष्य को गति देने में ही उसकी वास्तविक सेवा विद्यमान है।

: 2 :

शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण धर्म क्षात्र-धर्म है। क्षत्रियों का कर्त्तव्य है स्वयं निडर रह कर निडरता का साम्राज्य स्थापित करना। शिक्षा का कार्य सदैव समाज और राज के दबाव से मुक्त रहना चाहिए। शिक्षाकर्मी और शिक्षण संस्थाएं निरन्तर स्वतंत्र होनी चाहिए। ऐसी स्वतंत्रता स्थापित करने का काम क्षत्रिय-शिक्षकों का है। शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से समाज-सुधार के या राज-कीय गतिविधियों में न पड़ें, अपितु वह सामाजिक तथा राजकीय अनिष्टकारी आदर्शों से दूर रहे और ऐसा करने में अगर उसे समाज के या राज के विरुद्ध भी खड़ा होना पड़े तो वह वैसा करे भी।

जो शिक्षक यह मानता हो कि समाज के या राज के अनुकूल

रह कर ही शिक्षण कार्य किया जाना चाहिए, वह सच्चा शिक्षक नहीं है। कई बार तो उसे शिक्षण-कार्य में बाधक बनने वाले समाज या राज के सामने अगर लड़ना पड़े और उसे उलट डालना पड़े, तब भी शिक्षण-कार्य से अलग हट कर उसे ऐसा करना चाहिए। शिक्षण का आधार समाज या राज पर टिका हुआ नहीं है, अपितु पूरा समाज और पूरी राज व्यवस्था ही अच्छे शिक्षण के कारण टिकी रह सकी है। अतः जब-जब भी समाज अथवा राज टेढ़े या गलत मार्ग पर जाए, उसकी प्रवृत्ति शिक्षण के मार्ग में बाधक बन जाए, तब-तब समाज और राज दोनों को बदल डालने के लिए ही निकलने में शिक्षक का क्षात्र-धर्म समाहित है।

यह तो हुई एक बात, दूसरी बात यह, कि क्षत्रिय शिक्षक निर्बल का संरक्षण देने के लिए है। बालक शरीर से बहुत निर्बल प्राणी हैं, उनके अधिकारों का संरक्षण करना ही शिक्षक का धर्म है। बालक को सम्मान देने में उसके क्षात्र-बल की परीक्षा है। क्षत्रिय शिक्षक न तो बालकों का दास या गुलाम बन जाता, न ही वह उन पर जुल्म ढाने वाला अत्याचारी बन जाता, वह तो बालकों के व्यक्तित्व को सम्मान देते हुए उनके विकास को गति देता है। जिस तरह से एक क्षत्रिय योद्धा अपने बलवान शत्रु की भी प्रशंसा करता है उसी प्रकार एक क्षत्रिय शिक्षक तेजस्वी बालक से भी यदि कुछ सीखने जैसा होता हो तो प्रेमपूर्वक सीख लेता है। वह तेज का, वीर्य का, चेतन का सदैव अभिनन्दन करता है, उनकी मित्रता की तलाश में रहता है और उससे बलवान बनता है। आने वाले युग के शिक्षक अपने वीर्यवान शिष्य को अपने समान ही मानेंगे। यही नहीं, परन्तु उनकी मैत्री की इच्छा रखेंगे और उनसे ज्ञान अर्जित करेंगे। सच्चा क्षत्रिय शिक्षक वही है जो अपने क्रोध को रोक कर बालक से प्रेम करे, जो ताकतवर होते हुए भी पूर्ण क्षमाशील हो, तथा

जो ज्ञानवान होते हुए भी निरभिमानी हो। अभिमान रहित होना शिक्षक का सबसे बड़ा गुण है। अभिमान का ज्वार होने का अर्थ है ज्ञान का भाटा यानी पतन। हम शिक्षकों को यह मुद्दा ध्यान में रखना है कि अपने क्षात्र धर्म को कभी एक किनारे न रख दें। समाज के या राज के चाहे जितने भय अथवा दबाव हम पर क्यों न आ पड़ें, हम पूरी तरह से कर्त्तव्यपरायण रहें। आज अन्त्यजों को शाला में दाखिल करने से समाज चिढ़ता है और शुद्ध राष्ट्रीय शिक्षा की हिमायत करने पर सरकार चिढ़ती है, तो कल ऐसा करना समाज और सरकार दोनों को पसन्द न हो तो दोनों चिढ़ सकते हैं। लेकिन इससे हम निडर रहें और अपने आदर्शों से ही जुड़े रहें। इसी में हमारी परीक्षा है।

:3:

शिक्षक का तीसरा धर्म है ब्राह्मण धर्म। ऊपर वाले दोनों धर्मों के मुकाबले में यह उतना ही गौरवमय धर्म है, पर उतना ही गौण रूप में समझने का है। इस धर्म का पालन सच्चे तरीकों से किया जाना चाहिए। अकेली ज्ञान-सम्पन्नता तथा शिक्षण-कला से ही कोई सम्पूर्ण शिक्षक नहीं बन सकता। ज्ञान-समृद्धि तथा कला सचमुच ही शिक्षक की सफलता के अमूल्य साधन हैं, पर शिक्षण को सार्थक बनाने के लिए तो इसके पीछे विद्यमान क्षात्र-वृत्ति और सेवावृत्ति ही है। अन्य वृत्तियों की तरह यह वृत्ति प्रयत्नपूर्वक अधिक परिमाण में विकसित की जा सकती है। ज्ञान अध्यापक का परम धन है। इस धन के बिना शिक्षक विद्यार्थी को निराश ही करेगा। इस धन से रहित शिक्षक शिक्षक नहीं अपितु भिक्षुक है। यह एक ऐसी स्थिति है कि जैसे धनहीन व्यक्ति दाता बन बैठे।

रात-दिन जो ज्ञानधन प्राप्त करने के उद्योग में ही लगा है

यही शिक्षक की सच्ची कर्त्तव्यपरायणता है। जिसे निष्ठा और श्रद्धा कहा जाता है, वह श्रद्धा शिक्षक में है या नहीं इसका प्रमाण शिक्षक की ज्ञानपिपासावृत्ति से और इसके निमित्त किये गए श्रम से मिल सकता है। अगर बात को एक ही वाक्य में समेटा जाए तो ब्राह्मण-शिक्षक होने का अर्थ है ज्ञान का भंडार।

आज हम सब लोग हल्दी की गांठ लेकर बैठे हैं और इसी के बल पर पंसारी बने हुए हैं। पीसते हैं और रोटी पकाते हैं, सवेरे हम पाठ्यपुस्तक का नाम सुनते हैं, दोपहर को उसे पढ़ते हैं और शाम को उसे पढ़ाने निकल पड़ते हैं! अगर इस तरह की परिस्थिति पैदा करने से हम स्वयं को बचायेंगे नहीं तो हम भावी विद्यार्थियों पर बहुत बड़ा अत्याचार कर बैठेंगे। धर्म हमें याद दिलाता है कि हमें ज्ञान-सम्पन्न बनना है। समाज यही समझ कर हमें अपने बच्चे सौंपता होगा कि हम योग्य हैं, पर हम क्या हैं, यह हम स्वयं जानते हैं। और कुछ नहीं तो हम केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयास ही करें। अत्यावश्यक व्यवहार में किसी गैर जरूरी काम में हम अपना समय बर्बाद न करें। हम तो अपने मन में सिर्फ ज्ञान, ज्ञान और ज्ञान का ही चिंतन करते रहें। जब हमारे पास वास्तविक ज्ञान होगा तभी यानी जब हमारा अध्ययन पूरा हो जाएगा तभी हम दूसरों को अध्ययन करा सकेंगे और तभी हम सच्चे ब्राह्मण शिक्षक बन सकेंगे।

:4:

इस युग में अन्य वृत्तियों के साथ-साथ अगर शिक्षक में वैश्य वृत्ति नहीं है तो उसके शिक्षण-कार्य पर धक्का लगेगा। यह वैश्य-वृत्ति शिक्षक को अपने स्वार्थ के लिए विकसित नहीं करनी है अपितु अपने शिक्षण कार्य के फायदे के लिए विकसित करनी है। इसका अर्थ यह है कि इस युग में शाला की रिद्धि-सिद्धि के लिए

शिक्षकों को ही प्रयत्न करना है। पहले के जमाने में शिक्षक के माथे पर उसकी आजीविका या शिक्षण-साहित्य के व्यय की चिंता न थी, राज्य ही शिक्षक का पोषण करता था और शिक्षक को शिक्षण-कार्य के खर्च की चिंता नहीं करनी पड़ती थी। वह सुंदर प्रणाली आज समाप्त हो चुकी है और इसीलिए आज शिक्षक के माथे दोहरा काम आ पड़ा है। शिक्षक स्वतंत्र रहेगा, निश्चिंत रहेगा तो शिक्षण-कार्य वास्तविकता के साथ चलेगा, और इसी में समाज का कल्याण निहित है। वर्तमान समाज को यह बात अपने ध्यान में रखनी पड़ेगी। समाज को यह बात भी समझनी होगी कि शिक्षक को तथा शिक्षण संस्थाओं को स्वतंत्र तथा आर्थिक दृष्टि से निश्चिंत रखने में ही उसका श्रेय है। लेकिन जब तक ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं बन पाती, तब तक तो शिक्षक को विद्यार्थियों के लिए साधन-सम्पत्ति प्राप्त करने हेतु वैश्य-वृत्ति धारण करनी ही पड़ेगी। शिक्षक का यह कर्त्तव्य अल्पकाल के लिए ही है, पर वह अभी की हालत में बहुत महत्वपूर्ण है। इसी कारण से तो शिक्षण-कार्य को गति प्रदान करने के लिए द्रव्य प्राप्त करने की नीतियुक्त प्रवृत्ति निंद्य नहीं है और इसके लिए शिक्षक को लज्जित होने की कोई बात ही नहीं है। भले ही यह काम शिक्षक के स्वाभाविक सम्मान के अनुकूल न हो तथापि उसे एक सामाजिक धर्म समझ कर संपादित करना होगा। शिक्षण-कार्य में शिक्षक की सच्ची प्रीति और उसके कारण से शिक्षक की उक्त प्रकार की वैश्यवृत्ति शिक्षक की खरी तपश्चर्या है। इस तपश्चर्या से ही शिक्षा की संस्थाएं सुदृढ़ होंगी, इन्हीं से समाज का कल्याण सिद्ध होगा।

शिक्षको ! यह मैंने आपके समक्ष चार प्रकार के कर्त्तव्य प्रस्तुत किये हैं। इन्हें समझ कर इनका उपयोग करेंगे तो सबका कल्याण होगा।

□

शिक्षक कैसा होना चाहिए ?

शिक्षक के व्यवसाय का महत्त्व

किसी भी व्यवसाय से जुड़ने वाले व्यक्ति में उससे संबंधित योग्यता होनी चाहिए। योग्यता-विहीन व्यक्ति व्यवसाय में टिक ही नहीं सकता। संसार में अनेक व्यवसाय हैं, पर एक भी व्यवसाय ऐसा नहीं है कि जो शिक्षक-व्यवसाय की तुलना में टिक सके। शिक्षक का व्यवसाय अतीत और वर्तमान को जोड़ता है, तथा वर्तमान में जीवंत रह कर भविष्य का गठन करता है। शिक्षक का व्यवसाय याने समाज जीवन, समाजशास्त्र और समाज के भविष्य को निर्मित करने वाला व्यवसाय। जैसी व्यवसाय की महत्ता, वैसी ही इसकी जिम्मेदारी। अगर आज शिक्षण देने का काम बंद कर दिया जाएगा तो कल मनुष्य जीवन अंधकारमय बन जाएगा; धार्मिक, राजकीय व सामाजिक गतिविधियों के पांव टूट जाएंगे और मनुष्य जीवन थोड़े समय में पशु-जीवन के साथ तदाकार हो जाएगा।

शिक्षक किसे बनना चाहिए ?

यह व्यवसाय करने वाला मनुष्य शिक्षक कहा जाता है। इस व्यवसाय में लगने वाला व्यक्ति—शिक्षक कैसा होना चाहिए, इस बात के ज्ञान पर ही व्यक्ति को यह निर्णय लेना चाहिए कि वह शिक्षक के इस व्यवसाय में उतरे या न उतरे। कहा जाता है कि शिक्षक जन्मजात होते हैं, बनते नहीं। यह बात सही है। लेकिन

यदि शिक्षण-व्यवसाय जन्मजात शिक्षकों पर ही अवलंबित रह जाए तो कुछ समय में ही वैसे व्यक्तियों की कमी पड़ जाएगी। फलतः शिक्षण-कार्य बंद हो जाएगा। यह कारण है कि शिक्षक होने की या बनने की जरूरत है। कई बार ऐसा होता है कि जन्म से ही अलग-अलग मनुष्यों में शिक्षक के गुण भले ही थोड़े-थोड़े आए हों, पर उन लोगों का समूह बन जाता है और वे अच्छा काम कर बताते हैं।

व्यक्ति में अगर निम्नलिखित कतिपय गुण हों तो उसे शिक्षक बनने का इरादा करना चाहिए। फिर कुछ बातें तो मनुष्य अनुभव से या अध्ययन से बाद में भी भले ही सीख ले।

(1) शिक्षण कार्य आत्मोन्नति की साधना है। शिक्षण-कार्य अति पवित्र है, इस कार्य से और सब कामों को बजाय आत्मोन्नति का लाभ साधा जा सकता है, यह कार्य धर्म-विहित है और कल्याण की इच्छा रखने वालों को इसे अवश्य करना चाहिए, या फिर जो लोग मानते हैं वे ही सबसे पहले शिक्षक बनने के योग्य हैं। शिक्षण-कार्य विद्यार्थियों को अमुक प्रकार का ज्ञान प्रदान करने के लिए ही नहीं है। यह कार्य भले ही निष्पाप हो, पर केवल आजीविका कमाने के लिए नहीं। यह कार्य तो सर्वसाधारण को ऐहिक एवं पारमार्थिक यथार्थ लाभ कमाने और बलवान बनाने के लिए है। जो शिक्षक इस व्यवसाय के इस रहस्य को नहीं समझता, जो शिक्षक इस धर्म-कर्त्तव्य को जान नहीं सकता, वह चाहे जितना ज्ञानवान हो, चाहे कितना ही बड़ा शिक्षाशास्त्री हो या शिक्षण-पद्धति का ज्ञाता हो, फिर भी वह शिक्षक बनने में सर्वथा अयोग्य है।

'मैं जो कुछ कर रहा हूं, सिर्फ अपना पेट भरने के लिए नहीं; छात्रों को सिर्फ निर्धारित अभ्यास-क्रम के अनुसार परीक्षा के लिए तैयार करने हेतु नहीं; अपितु मैं कल्याण की भावना रखने

वाला शिक्षक हूं अतएव जिस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए मैं संघर्ष कर रहा हूं इस परम तत्त्व की दीक्षा की तरफ मेरा शिक्षण मुझे ले जाएगा, ऐसी भावना से मैंने यह कार्य स्वीकार किया है।' जिसका ऐसा दृढ़ मंतव्य है वही शिक्षक बनने के योग्य है। जिसका धार्मिक-जीवन शिक्षण-जीवन के साथ एकरूप हो जाता है, जिसकी सब धार्मिक क्रियाएं शिक्षण-क्रिया में ओत-प्रोत हो जाती है, जो अपना आध्यात्मिक ध्येय पवित्र शिक्षण-कार्य की सफलता में देखता है वही मनुष्य शिक्षक बनने के योग्य है।

(2) दूसरी आवश्यकता उस कार्य की उपासना है। किसी भी कार्य की सिद्धि उसकी उपासना के बिना नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य उस काम के पीछे पागल नहीं हो जाता तब तक वह किसी भी काम को सिद्ध नहीं कर सकता। अगर मनुष्य में किसी भी काम के पीछे संलग्न रहने की आदत नहीं है तो वह किसी भी व्यवसाय में सही रीति से योग्य नहीं है। इस हिसाब से शिक्षक में उपासना करने का बल होना चाहिए, शिक्षण के पीछे पागल हो जाने की शक्ति चाहिए, तथा शिक्षण के पीछे अविश्रांत परिश्रम करने का वीर्य होना चाहिए। शिक्षण के पीछे जो पागल नहीं है, वह शिक्षक ही नहीं है। किसी भी सच्चे व्यवसायी का लक्षण अपने व्यवसाय के प्रति पागलपन ही है। जब तक व्यक्ति में अपने काम के प्रति पागलपन नहीं आया तब तक वह व्यक्ति अपने उस व्यवसाय से बहुत दूर है। जिसे रात-दिन शिक्षण, शिक्षण और शिक्षण का ही विचार आता रहता है, उसके स्वप्न भी शिक्षण से परिपूर्ण हैं। जिसकी नजरों के सामने नहाते-खाते-पीते, हर काम करते शिक्षण के ही विचार हैं वही सच्चा शिक्षक है, वही खरा पागल है। आटा खाना और भोंकना–ऐसा कभी नहीं होता। शिक्षक का व्यवसाय लेना और अशिक्षकपने का व्यवहारकरना–

यह कभी नहीं चलने का। हजारों लोगों ने शिक्षक या पोथी पंडित के रूप में काम किया है। पर जो लोग इस धन्धे में पागल बन गए, जिन्होंने इसके पीछे अपने सभी सुखों की तिलांजलि दे दी, और इस पागलपन के पीछे अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी, बल्कि जिन्होंने इस पागलपन में ही समझदारी, सुख या आनंद माना, उन्हीं के नाम आज शिक्षाशास्त्र में अमर हैं।

वैसे पगले लोग ही वर्तमान काल के नियामक हैं, उन्हीं के हाथ भविष्य की रचना के लिए उठे हुए हैं। ईश्वर के पीछे जो पागल हो गए थे उन्होंने ही ईश्वर को प्राप्त किया है। पागलों ने ही वर्तमान दुनिया को खोजा है। पागलपन में ही खगोल और भूगोल का ज्ञान अवतरित हुआ है। आज के मानवीय सुख के साधन पागलपन से ही जन्मे हैं। यह पागलपन ही शिक्षक की सच्ची निशानी है। जो अपने काम में इतना रच-पच गया है कि उसे निंदा या स्तुति की परवाह तक नहीं, अपने विद्यार्थियों के साथ हिलने-मिलने और उनके साथ नाचने-कूदने में जो छोटापन महसूस नहीं करता, जो अपने प्रत्येक विद्यार्थी में स्वयं का अवलोकन करके उससे मिलता है, जिसकी अपनी देह-चेतना या ज्ञान-चेतना विद्यार्थियों के पास जाते ही अपने आप छूट जाती है, जिसे विद्यार्थियों के सामने बड़ा आदमी बनकर खड़ा होने में शर्म आती है, जिसका हृदय प्रत्येक विद्यार्थी के हृदय में धड़कता है, ऐसा पागल शिक्षक ही सच्चा शिक्षक है। जिसका दिल विद्यार्थियों के रोने के साथ रो पड़ता है, विद्यार्थियों की हंसी में जो अपने जीवन का आनंद अनुभव करता है, जिसके लिए छोटी या बड़ी दुनिया विद्यार्थी-जगत् है, जिसके सुख-दुख का आधार विद्यार्थी के सुख-दुख पर है, जिसके लिए अपने हाथ से जाने-अनजाने में विद्यार्थी के साथ हुआ अन्याय अत्यधिक प्रायश्चित का कारण बन जाता है, वह

व्यक्ति—वह पागल व्यक्ति ही शिक्षक व्यवसाय के योग्य है!

(3) शिक्षक का तीसरा आवश्यक विषय है प्रेम। दुश्मन तक को जीत लेने वाला महान गुण है प्रेम। प्रेम से व्यक्ति भगवान को पा सकता है। प्रेम इस संसार में स्वर्ग को उतार कर ला सकता है। प्रेम एक अजब मोहनी है। प्रेम के वशीभूत मनुष्य-प्राणी व्यवहार करते हैं। सचराचर विश्व प्रेम की जंजीर से जकड़ा हुआ है। प्रेम स्वर्ग की सीढ़ी है। प्रेम जीवन का आराम है। धर्म की नींव में भी प्रेम ही है। व्यवहार की उलझन को सुलझाने वाला प्रेम है। ईशू का उपदेश भी प्रेम का है। बुद्ध का उपदेश भी प्रेम से ही (न कि तिरस्कार से) सामने वाले को जीतना है, कृष्णजी ने भी जीवन में प्रेम का गान किया है। भक्तों की भक्ति तो प्रेम स्वरूप है, प्रेम से उत्पत्ति होती है। प्रेम से ही दुनिया को पोषण मिलता है। प्रेम सर्वव्यापी है, प्रेम सहनशील है, प्रेम शुभचिन्तक है, प्रेम एकता का साधक है। बल्कि, प्रेम एक जादू ही है। अगर संसार में प्रेम जैसी चीज नहीं होती तो संसार की स्थिति आज कैसी हुई होती, उसकी भयंकर कल्पना से ही कंपकंपी आ जाती है। अगर शिक्षक में ऐसा प्रेम नहीं है तो वह शिक्षक बन ही नहीं सकता। आने वाले कल की दुनिया का भविष्य शिक्षक के हाथ में है। आज शालाओं के माध्यम से पूरे विश्व के मातृ-स्थान पर बैठ कर शाला तथा समाज का उद्धार करने का धार्मिक काम शिक्षक के माथे पर आ पड़ा है। इस धर्म के काम में मानव जाति की रक्षा और उद्धार निहित है। प्रेम से चेतना का जन्म होता है। शिक्षक को प्रेम के द्वारा—सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति प्रेम के द्वारा अपना महान धर्म, अपना महान कर्त्तव्य व्यक्त करना है तथा सिद्ध करना है। मोंटेसरी का निम्न कथन इस विषय पर अत्यन्त उत्साहजनक प्रेरणा प्रदान करता है :

'प्रेम फलोत्पत्ति के भीतर विद्यमान रहने वाला मुख्य प्राण है, और फलोत्पत्ति का उद्देश्य है नए जीव का निर्माण। प्रेम का उद्देश्य भी ऐसा ही कुछ नव-निर्माण करना है। शिक्षक को भी नए फल निर्मित करने होते हैं अतः उसके कार्य में भी मानव-प्रेम होना चाहिए। इस तरह नए फल उत्पन्न करने की वृत्ति से शिक्षक को प्रेरित होना चाहिए तथा प्रेरित होकर उसे अपना कर्त्तव्य-क्षेत्र खोज लेना चाहिए। ऐसा क्षेत्र है शाला को सुधारना और संसार भर की माता बनने का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करना। इस मातृ-पद पर चढ़ कर शिक्षक को सम्पूर्ण मानव जाति की—साधारण और असाधारण सब की रक्षा करनी है। सुधार सिर्फ शालाओं का ही नहीं करना है अपितु पूरे समाज का करना है, क्योंकि शिक्षण-विधा का प्रयोग इतना पावन तथा परिणामदायी है कि मानव जाति की अत्यन्त नीच वृत्तियों का मानव-जाति के रोगों का वह अपहरण करती है, उसे अधःपतन से भी बचाती है। जिन्सेप्पी सर्जी नामक लेखक ने कहा है कि आज का समाज-जीवन ऐसा बन गया है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में नितांत नये प्राण संचरित करने की आवश्यकता आ खड़ी हुई है। इस अभियान में जो भर्ती होने के लिए निकल आएगा वह मानव-जाति को पुनर्जीवित करने वाली सेना का सैनिक समझा जाएगा।'

□

शिक्षाशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

व्यावसायिक ज्ञान की जरूरत

यह एक महत्वपूर्ण विषय है। हमारे देश में सामान्य रूप से इधर ऐसा समझा जा रहा है कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा हर कोई व्यक्ति, विशेष रूप से हर कोई ग्रेजुएट अध्यापक बन सकता है। इस मान्यता के परिणामस्वरूप शिक्षण-संस्थाएं ग्रेजुएट व्यक्तियों को अध्यापक के रूप में नियुक्त करके संतोष का अनुभव करती हैं कि उन्होंने योग्य व्यक्तियों को नियोजित किया है और स्वयं चयनित ग्रेजुएट भी यह मानकर चलते हैं कि वे शिक्षण कार्य को साहस के साथ संपादित कर सकते हैं, पर वस्तुतः यह उनकी भ्रांत धारण ही है। जिस प्रकार वकील, डॉक्टर या कारीगर अपने व्यवसाय का ज्ञान अर्जित किये बिना वकालत, डाक्टरी या कारीगरी के काम नहीं कर सकते उसी प्रकार अध्यापक के धंधे को जाने बिना कोई व्यक्ति यह व्यवसाय नहीं कर सकता। व्यवसाय विशेष में ज्ञान अर्जित किये बिना उसे अंगीकार करने वाला व्यक्ति जिस प्रकार उसमें असफल सिद्ध होता है, उसी प्रकार शिक्षण व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त न करने वाला व्यक्ति भी उसमें असफल सिद्ध होता है।

राष्ट्रीय जागृति का प्रभाव

इसके बावजूद हमारे यहां तो अभी तक अध्यापन व्यवसाय के ज्ञान से रहित शिक्षकों ने ही शिक्षण कार्य किया है, इसीलिए हमारे देश की शिक्षा में सुधार नहीं हो पाए हैं। जिन-जिन विषयों

को उन्होंने पढ़ा है, उनमें शिक्षण-कार्य करना सबों ने सरल माना। यही कारण है कि उन विषयों में न वस्तु के स्तर पर परिवर्द्धन हुआ न शिक्षण-पद्धति के स्तर पर। अब समय बदल गया है। राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से कौन-कौनसे विषय सिखाए जाने चाहिए तथा कैसी शिक्षण पद्धति अपनानी चाहिए, ये प्रश्न हमारे सामने खड़े हुए हैं। पहले से पढ़ाये जाने वाले विषयों एवं उप-विषयों में से कुछेक को पाठ्यक्रम से हटाने की और कुछेक नए विषय लागू किये जाने की चर्चा चल रही है। साथ ही साथ प्रचलित शिक्षण विधि भी अनिष्टकारक सिद्ध हो चुकी है अतः उसे हटा कर कहीं-कहीं नए प्रयोग भी शुरू हो चुके हैं।

देश एवं शिक्षकों का दायित्व

ऐसी स्थिति में अध्यापन व्यवसाय का ज्ञान अर्जित किये बिना, नए-नए विषयों और उन्हें पढ़ाने की पद्धति को जाने बिना शिक्षक बन जाना, एक विचित्र स्थिति है। ऐसे शिक्षकों को विद्यालयों में नियुक्त करना भी ऐसी ही विचित्र स्थिति है। लेकिन जब तक पूरे देश में अध्यापकों को प्रशिक्षित करने वाली देशी संस्थाएँ स्थान-स्थान पर न चलें, वहां से अनगिनत शिक्षक प्रशिक्षित होकर न निकलें, तब तक न कोई शिक्षक बनने की इच्छा करे, न ही कोई संस्था ऐसी स्थिति को जारी रहने दे, विशेष रूप से राष्ट्रीय दृष्टि से शिक्षा देने का प्रयोग करने वाली संस्था के लिये तो ऐसा व्यवहार वर्जित होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में अध्यापकों को सच्चा शिक्षक बनने के लिए आगे आने तथा देश में ऐसी प्रशिक्षण-संस्थाएं खोलने के लिए अपना दायित्व वहन करना चाहिए।

दो मुख्य कठिनाइयां

राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए ऐसे प्रयत्न तत्काल चारों ओर किये जाने चाहिए और सामने की तमाम कठिनाइयों का

मुकाबला किया जाना चाहिए। आने वाली कठिनाइयों में मैं दो कठिनाइयां मुख्य मानता हूं। एक तो यह मान्यता कि शिक्षाशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किये बिना अनुभव से शिक्षक बना जा सकता है, और दूसरी है श्रम के प्रति देशवासियों में अनादर की भावना।

मात्र अनुभव के आधार पर कोई शिक्षक बन सकता है, यह एक भ्रांति है। भ्रांति ही नहीं, एक विषैला विचार है। जन्मजात शिक्षक तो इस संसार में बहुत कम होते हैं, बल्कि कहें कि सौभाग्य से ही होते हैं। वस्तुतः ऐसे शिक्षकों का अनुभव ही (प्रामाणिक) अनुभव कहा जा सकता है। दूसरे अध्यापक तो साधारण मनुष्य हैं। वे तो प्रयास द्वारा ही शिक्षक बन सकते हैं। आजन्म शिक्षकों के लिए भी शास्त्र का ज्ञान जब उपयोगी और आवश्यक है तो सामान्य शिक्षकों की तो बात ही क्या? अनुभव से शिक्षक नहीं, अशिक्षक बनना संभव है। इस बात को आसानी से समझा जा सकता है। मुझको अमुक विषय का अनुभव है, इसका यही अर्थ है कि यह काम मैं बहुत समय से करता आया हूं। अनुभव के इस अर्थ में मेरा काम सही है अथवा गलत, यह जानने का कोई प्रयास नहीं है। अगर वह सही काम हुआ, और बहुत समय से करने की वजह से मुझको सही काम करने का अनुभव प्राप्त है, पर अगर वह काम गलत है तो बहुत समय से मेरे द्वारा गलत काम किये जाने की वजह से मुझको गलत काम करने का अनुभव प्राप्त है, यही कहा जाएगा। शिक्षण-कार्य करने वाला व्यक्ति सामान्य रीति से प्रकृति-सिद्ध शिक्षक नहीं होता। अपने ढंग से काम करने के कारण वह अधिकांशतः अपनी ही गलतियों को बार-बार दोहराता जाएगा, यही संभव है। अतएव उसके अनुभव का अर्थ है गलतियों की दृढ़ परम्परा। अगर कोई व्यक्ति यह समझता है कि अनुभव के कारण उसको शिक्षाशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, तो यह

उसकी बड़ी भूल है। अगर इसी धारणा की बदौलत कोई शिक्षक शिक्षाशास्त्र का ज्ञान अर्जित करने के विरुद्ध हो तो वह शिक्षक बनने लायक है अथवा नहीं, यह विचारणीय प्रश्न है !

मेरा कहने का यह आशय नहीं है कि एकमात्र शिक्षाशास्त्र के ज्ञान से ही कोई व्यक्ति अध्यापक बन सकता है। जिस तरह से विधिशास्त्र के ज्ञान द्वारा कोई व्यक्ति विधिवेत्ता नहीं बन सकता–तो यही बात शिक्षक के साथ है। उसमें और भी अनेक गुण होने चाहिए। इन गुणों के अभाव में सामान्य जनों को इस व्यवसाय पर कब्जा करके अथवा शिक्षण संस्थाओं द्वारा ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करके देश को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहिए।

दूसरी कठिनाई है हमारे बंधुओं में परिश्रम का अनादर करने की भावना। यह कोई कठिनाई नहीं अपितु एक दुर्गुण है। इसको हमें दूर हटाना ही चाहिए। अगर देश की भलाई के लिए समझदार व्यक्तियों में परिश्रम करने की वृत्ति न हो, अथवा यह काम उनके शरीर के प्रतिकूल हो तो ऐसे व्यक्तियों को जाने-अनजाने शिक्षक-व्यवसाय में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। इतना विवेक होगा तभी देश के कल्याण स्वरूप इस व्यवसाय में तेजस्विता आ सकेगी। सरकार ने शिक्षक तैयार करने के निमित्त संस्था स्थापित की है, पर उससे देश को जिस तरह के शिक्षकों की जरूरत है, वैसे कभी नहीं मिल सकेंगे। □

हमारे विद्यालय मे यह नहीं चलेगा

हमारे विद्यालय में शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय नहीं होगा तो चलेगा, परन्तु मांग-तांग करके भी अगर शिक्षा संबंधी पुस्तकों से कोई अध्ययन नहीं करेगा तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय का भवन आलीशान पत्थरों का बना या टाइलों जड़ा न हो तो चलेगा, परन्तु अगर उसकी जमीन में खड्डे पड़े हुए होंगे या वह गोबर-गारे से लिपा-पुता नहीं होगा, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय की दीवारें रंग-रोगन की हुई और सुन्दर नहीं होंगी तो चलेगा, परन्तु अगर उन पर एक भी जाला होगा या धूल चिपकी हुई होगी तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में अच्छे दरी-कालीन बिछे हुए नहीं होंगे तो चलेगा, परन्तु अगर कहीं भी थोड़ा-बहुत कचरा या धूल बिखरी होगी और वह पैरों में आती होगी, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में शिक्षण के ढेर सारे उपकरण नहीं होंगे तो चलेगा, परंतु अगर वहां थोड़े-से भी उपकरण हों और वे बिल्कुल काम में नहीं लाये जायें, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में बड़ा-सा पुस्तकालय नहीं होगा तो चलेगा, परंतु हाथ से लिखी गई और बालकों द्वारा उत्साह से पढ़ने जैसी पुस्तकें न हों, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में हम बड़े भारी पंडित न हों तो चलेगा, परंतु अगर बालकों को सम्मान देने वाले, उनके विकास का अर्थ समझकर उन्हें उत्तम वातावरण देने वाले नहीं होंगे, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में हम पढ़ाने और प्रति पल छात्रों को विवेकवान बनाने हेतु भाग-दौड़ करने वाले नहीं होंगे तो चलेगा, परंतु अगर हम उनके काम के बीच बाधक बनते होंगे, घोचेबाजी करके उन्हें जबर्दस्ती पढ़ाने बिठाते होंगे, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में बच्चे दो पल पढ़ेंगे और दो पल खेलेंगे तो यह चलेगा, परंतु अगर बच्चे कारखानों के मजदूरों की तरह दिन भर काम करते ही रहें और हम लोग उन पर सख्त नजर किये रखें, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय के बालक हमारे गले में आकर न झूमते हों और मित्र बन कर आगे न चलते हों तो चलेगा, परंतु अगर वे हमें देखकर दूर दूर भागते हों, हमसे डरते हों, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में बच्चे कम पढ़ेंगे तो चलेगा, धीमे-धीमे पढ़ेंगे तब भी चलेगा, परंतु अगर वे चीख-चीख कर पढ़ते-पढ़ते उकता जाएं और शिथिल हो जाएं, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में बच्चे अपनी इच्छा से बैठें, मर्जी हो तो पढ़ें और मर्जी हो तो चित्र बनायें, यह सब चलेगा। परंतु किसी आगंतुक को दिखाने के लिए अगर वे लिखें, गायें या चित्र बनायें, तो यह नहीं चलेगा।

हमारे विद्यालय में बालकों को कोई काम समझ में नहीं आया और उन्होंने धैर्य के साथ हमें बता दिया या बाद में धीरे-धीरे उसे कर लिया तो यह चलेगा, अगर डांट-डपट या मारपीट से वे जल्दी-जल्दी करें, तो यह नहीं चलेगा। □

बाल मंदिर के शिक्षकों से

शिक्षण की उपासना

एक वर्ष के करीब मैं आपके बीच में रहा। आप मेरे निकट परिचय में आए। मेरे पास जो कुछ मामूली सम्पत्ति थी उसे मैंने आपको प्रदान करने का यथासंभव प्रयास किया। जिन सिद्धांतों में मेरी मान्यता है और जिनमें मुझे विश्वास है कि उनके द्वारा शिक्षा का उद्धार होगा वे बातें मैंने आपके समक्ष सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक रूप में प्रस्तुत की हैं। आप लोगों ने भी रात-दिन परि-श्रम करके विद्यार्थियों को शोभा देने जैसी विद्या अर्जित करने का प्रयत्न किया है, यह मैं जानता हूं। आंतरिक उत्साह के साथ आप यहाँ पढ़ने आए थे और श्रद्धा के साथ आपने यहां पढ़ाई की है। आज वर्ष भर के अध्ययन-अध्यापन-कार्य की पूर्णाहुति है। आज के दिन मुझे क्या करना रह गया है? क्या कहना शेष है? क्या बातें समझानी हैं? आज तो जिस विश्वास से आपने पढ़ाई की है उसमें सफल बनो ऐसे आशीषोद्‌गार ही व्यक्त करने हैं मुझे।

आप लोगों ने अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार ज्ञानार्जन किया होगा। उसकी मुझे चिंता नहीं है। मैं आपसे जो मांगना चाहता हूं वह है श्रद्धा, श्रम, एकनिष्ठता। जो बातें मैंने आपको सिखाई हैं, उनकी आप लोग उपासना करते रहें। उपासना में रहस्य के गहन अर्थ का ज्ञान, क्रियात्मक सूक्ष्मता, उद्दाम कल्पना और विश्वास की जरूरत पड़ती है। अगर ये सब बातें आप में होंगी

तो पत्थर में से भी देवता प्रकट हो जाएंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। शिक्षण की यह उपासना आपसे वफादारी की मांग करेगी, ऐहिक सुख-भोगों को भूल जाने का आग्रह करेगी, शरीर व मन की परीक्षा ले लेगी। लेकिन अगर आप लोग स्थिर-चित्त रहेंगे, विचारशील होंगे, तो आप विजय प्राप्त करेंगे। संसार में कोई वस्तु स्वयं महान है या निम्न है, ऐसा नहीं। उपासना से प्रत्येक वस्तु महत्ता अर्जित करती है। उपासना की निष्फलता से महान वस्तु की भी पराजय हुई है, महान वस्तु भी अल्प-प्राण बन जाती है।

मोंटेसरी पद्धति का मूल बाल-सम्मान में निहित है। जिसे मनुष्य के विकास की चिंता हो उठी, मनुष्य के उद्धार के लिए जिसका हृदय द्रवित हो उठा, मनुष्य जीवन जैसी अमूल्य वस्तु को जिसने अनेक मताग्रहों, परम्पराओं और शिक्षा की बेड़ी से जकड़ी हुई देखकर सम्पूर्ण पद्धति के विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह छेड़ दिया, उसके हृदय से जन्मी है यह और उसके अथाह श्रम से ही इसकी देह निर्मित हुई है।

मोंटेसरी पद्धति क्या है ?

उपकरण, पद्धतिपरक पाठ, कमरों की-लम्बाई-चौड़ाई आदि आदि बातें तो इस सिद्धांत से उद्भूत हुई ही हैं। सिद्धांत के बगैर इन सबका कोई अर्थ ही नहीं है। ये बातें शिक्षक पर निर्भर नहीं करतीं। अगर इन चीजों का जड़तापूर्ण उपयोग किया जाएगा तो वह वर्तमान शिक्षण-पद्धति की जड़ता से किसी भी तरह कम नहीं होगा। अगर आपने सिद्धांत समझ लिये हैं तभी ये उपकरण आपके काम के हैं, और तभी आप उपकरणों को साध्य मानने की बजाय साधन मानेंगे। सिद्धांत समझे हैं तभी उपकरणों में जो चेतन है उसे समझ सकेंगे, संकीर्ण अर्थ पर नहीं जाएंगे। लेकिन यदि उपकरणों को ही आपने (मोंटेसरी) पद्धति के नाम से पह-

चान लिया है, केवल ऊपरी सतही अर्थ ही ग्रहण किया है तो फिर आपके हाथों में गट्टे और फ्रेम ही रह जाएंगे। बालकों के लिए वह सब भार स्वरूप हो जाएगा और जीवन-विकास सिद्ध करने के नाम पर, बाल-स्वातंत्र्य के नाम पर स्वयं आप उसके विकास को रोकेंगे और उसके गले में गट्टों की बेड़ियां डालेंगे।

दुनिया में नया क्या है ? सत्य वहीं के वही हैं। जहां-जहां भी प्रवर्तित होते हैं वहां-वहां उनके एक जैसे ही स्वरूप दिखाई देते हैं। सच्चा विकास स्वतंत्रता में निहित है। स्वतंत्रता यानी नियमन ! सच्चा मनुष्य स्वाधीन होता है, पराधीन नहीं। दूसरे पर भरोसा करके चलने वाली उधार की बुद्धि वाला नहीं, अपितु अपनी मौलिक बुद्धि वाला; परावलंबी नहीं अपितु स्वावलंबी ! ये सत्य युगों पुराने हैं, सच्चे शिक्षाशास्त्री के समक्ष शिक्षा के आदर्श हमेशा यही रहे हैं, पर अब तक भला यह बात किसके ख्याल में आई थी कि तीन वर्ष के बालकों में भी स्वाधीनता, स्वतंत्रता, संयमन आदि के दर्शन सहज ही हो जाएंगे ? किसने इस कल्पना को श्रद्धापूर्वक प्रयोग की कसौटी पर चढ़ाया, और यह सिद्ध कर दिखाया कि ठेठ नन्हीं वय के बालक स्वतंत्रता का सच्चा लाभ उठा सकते हैं और स्वयं अपना विकास साध सकते हैं ? और किसने विकास के अनुकूल उपकरणों की खोज करके बालकों का विकास प्रत्यक्ष कर बताया ? मोंटेसरी का यह दावा है कि उसने कुछ नया काम कर दिखाया है, बल्कि उसके बजाय प्राचीन सत्यों को नया मार्ग, नई दिशा, नया स्वरूप प्रदान किया है। लेकिन यह नया रूप प्रदान करने की नवीनता में ही इसका सम्पूर्ण कार्य नितांत नया और मौलिक बन गया है।

मोंटेसरी की शोध के मूल में जो तत्त्व विद्यमान हैं, उन्हें आप लोगों को समझना है। ये तत्त्व मोंटेसरी के नहीं हैं, न इटली

या यूरोप के हैं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के हैं। जिसका विकास हम साधना चाहते हैं उसका अवलोकन किया जाना चाहिए। अवलोकन द्वारा यह ढूँढ़ा जाए कि उसके विकास में अवरोधक या रोचक बातें क्या-क्या हैं ! इसके आधार पर ही उसके विकास को प्रेरित करने जैसा वातावरण निर्मित करना चाहिए। विकास की जिज्ञासा रखने वाला दृष्टा है, सहायक है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है अतएव सार्वत्रिक है। इस सत्य को आप संकीर्ण या संकुचित न कर डालें। आप इसे चाहे जो नाम दीजिए, भले ही आप इसे मोंटेसरी पद्धति कहें। इसे आप नाम से मत बांधना। इसकी वफादारी इसके यथार्थ परिपालन में है। यह परिपालन आप निर्मल एवं स्वतन्त्र बुद्धि से करना, दृढ़ता व निर्भयता से करना। कहीं आप पोथी-पंडित मत बन जाना कि देखें मोंटेसरी क्या करती हैं अथवा गिजुभाई ने क्या लिखा है या तारा बेन का क्या कहना है, ऐसा कह कर आप अपनी उलझन का हल निकालने की आशा मत रखना। अपनी परेशानी आपको स्वयं हल करनी है। मैंने तो आपको सिर्फ रास्ता दिखाया है, अब समाधान आपको ही करना है। प्रत्येक बालक का नया-नया अनुभव करके आपको ही उसके मन की खोज करनी है और विकास का मार्ग खोलना है। अपने निजी अनुभवों को आप पूरा सम्मान दीजिए, उसी से सच्चे शिक्षण का उद्‌भव होगा। जिस (शिक्षण) पद्धति के सिद्धांत मानव जाति को गुलाम-मानसिकता से मुक्त करना चाहते हैं, अगर आप उसी पद्धति के गुलाम हो जाएंगे तो उद्देश्य निरर्थक चला जाएगा। प्रत्येक पद्धति सत्य की शोध चाहती है, और सत्य-शोधन यथार्थ अनुभव में निहित है : यथार्थ अनुभव उसी को होता है जो स्वयं अपनी आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, जो स्वयं विचार करता है, जो भ्रांतियों और आचारों

से तटस्थ रहता है, जो सत्य समझी जाने वाली भूल को स्वीकार करता है और जो सत्य के समक्ष असत्य को छोड़ने के लिए तैयार रहता है। पद्धति आप से यही चीज मांगती है।

यहां के आलीशान भवनों में चलने वाली खर्चीली मोंटेसरी पद्धति को आप लोगों ने देखा है। उनके अनुसार आप कहीं यह मत समझ लेना कि इन तमाम के बिना मोंटेसरी शाला चल नहीं सकती। वस्तुत: मोंटेसरी शाला का जन्म इटली के गरीब लोगों की झोंपड़ियों में ही हुआ है। अत: जब तक हम अपने गरीबों तक इस पद्धति का लाभ नहीं पहुंचायेंगे तब तक इस पद्धति की सच्ची जीत नहीं होगी। जिस जगह शारीरिक गंदगी है और दिमागी अंधेरा है वहीं इस पद्धति का प्रकाश ले जाना होगा। आप हरिजनों व निर्बल वर्ग को इस पद्धति का लाभ पहुँचायेंगे तभी इसका खर्च सार्थक सिद्ध होगा। आप शिक्षक हैं। पढ़ाना आपका काम है। पैसों के लिए अपनी शक्ति वैश्य बेचता है। पैसों का मोह छोड़ देंगे तभी आप गरीबों की तथा गांवों की सेवा सकेंगे। अगर आपको सचमुच ऐसा लगे कि आज हमारे देश ने निर्मल बुद्धि का – सच्ची क्रिया शक्ति का दिवाला ही निकाल दिया है तब तो आप जहां सघन अंधेरा हो, जो अधिक असहाय हों, जो साधनविहीन हों, उन्हीं के पास जाना और उन्हें आगे लाने के लिए परिश्रम करना।

हम छोटे लोग हैं। मैंने छोटे मुंह बड़ी बात कह दी, पर कोई परवाह नहीं। अगर हृदय में हिम्मत बांध कर तथा ईश्वर में दृढ़ आस्था रख कर हम चलेंगे तो यही ईश्वर हमें सब कामों में सक्षम बनायेगा। आपका और मेरा काम प्रयत्न करना मात्र है। मैंने तो यथा मति, यथा शक्ति अपना प्रयत्न कर लिया, अब आप लोगों का कर्त्तव्य खड़ा होता है। भगवान आपकी सहायता करे।

□

कर्त्तव्य

क्या करें ?

आप सब लोग चाहे जिस जाति अथवा धर्म के हों, इस बात को गौर किये बिना मैं आप सब को शिक्षक जाति का मान कर सम्बोधित कर रहा हूँ। मैं भी व्यवसाय से, विचार, व्यवहार और कल्पना से आपकी ही जाति का हूँ, अतएव आप ही की जाति का कोई व्यक्ति आपसे कह रहा है, यही मान कर मेरे निवेदन को कृपापूर्वक सुनिए।

आप देख रहे हैं कि व्यापार में या राजनीति में बहुत सारे लोग संलग्न हैं। नाटक तमाशे में तो और भी अधिक लोग इकट्ठे हो जाते हैं। परन्तु हमारे प्रति सबों की अनभिरुचि और अनादर होने के कारण हमारी सभा में बहुत कम लोग इकट्ठे होते हैं।

हम लोग जैसे किसी भी काम के न हों, इस तरह का समाज में हमारा स्थान है। 'बेचारे मास्टर' के रूप में हमें देखा जाता है। हमारी सभाओं के समय मोटरें, गाड़ियां, कुर्सियां या रौब-रुतबेदार लोग नहीं होते, पर साधारण अध्यापकगण ही होते हैं। इसका यही कारण है कि आज लोगों की शिक्षा में रुचि नहीं है, जीवन में रुचि नहीं है। जीवन से दूर होने के कारण जन-समाज को हमारी जरूरत नहीं है।

हालांकि मेरे कुछेक स्वप्न आपको पागलपन-से प्रतीत होंगे, परन्तु मुझे विश्वास है कि भले ही हजार वर्षों के बाद, लेकिन एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि जब शिक्षाविद् बाजार से गुजरेंगे तो

लोग उन्हें सम्मान से देखेंगे, उनकी सभाओं में उपस्थित होंगे और उन्हें समुचित सम्मान देंगे। लेकिन ऐसा होगा कब ? जब लोगों में जीवन जागेगा। जब हम स्वयं उस जीवन से प्रज्वलित हो उठेंगे। अभी तो हमें अपनी स्थिति बहुत ही साधारण दिखाई देती है। थानेदार का, नगरपालिका का या डाकघर का चपरासी भी बड़ा दिखाई देता है और हम तो 'बेचारे अध्यापक' हैं, ऐसा लगता है। बहुत कम वेतन मिलता है, वह भी खुशामद और कागजी कार्रवाई की माथापच्ची के बाद ! सचमुच हमारी ऐसी दशा दया के काबिल और शर्म पैदा करने वाली है। इसमें हमारा भी दोष होगा ही। मंत्री और राजा बनाने वाले व्यक्ति की ऐसी दशा नहीं होनी चाहिए। लेकिन हमें हिम्मत हारने की बात नहीं है, न हम किसी अन्य व्यवसाय में जाने की बात सोचें।

मुझे लगता है कि देश भर के श्रेष्ठ, प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिशाली, कमाई करने वाले और बड़े काम करने वाले लोग जब तक इस व्यवसाय में नहीं आएंगे तब तक हमारी शालाओं की उन्नति नहीं होगी।

डॉक्टरों की जीविका मनुष्य जीवन की निष्फलता पर निर्भर है, वकील भी समाज-जीवन की निष्फलता पर जीविका चलाते हैं। लोग आरोग्य के नियमों को भंग करते हैं और बीमार पड़ते हैं, या आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, मामले-मुकदमे करते हैं, गलत दस्तावेज बनाते हैं : इस प्रकार की जीवनगत निष्फलता पर इन लोगों का व्यवसाय चलता है। पर हम लोगों का व्यवसाय सर्वश्रेष्ठ है। इतने सर्वोत्तम व्यवसाय में निष्फल रहने का एक ही कारण है कि हम अपने शिक्षण धर्म की उपेक्षा करते हैं। जन-समाज के दोष तलाशने से हमारा काम नहीं चलेगा। हमें तो अपने व्यवसाय के गौरव को समझते हुए उन्नति के लिए अपना योगदान देना है।

इसलिए मैं सबसे पहले तो यह बात दिमाग में बिठाना चाहता हूं कि भले ही हम गरीब हों, सामान्य बुद्धि के या झुककर चलने वाले हों, हमारा स्थान चाहे जहां भी हो, लेकिन हमें मिथ्याभिमान से नहीं अपितु निरभिमान बनकर समझना होगा कि अगर हम संकल्प कर लें तो संसार को उन्नति के शिखर तक पहुंचा सकते हैं।

किसलिए हमें नम्रता से चलना चाहिए ? प्राणि मात्र को अधिकार है कि सच्चा स्वाभिमान रखे। तब भला पुलिस के सिपाही से क्यों डरें ? ऊपर वाले अधिकारी की खुशामद क्यों करें ? ऐसा सात्त्विक अभिमान को हममें होना ही चाहिए। अपनी योग्य प्रतिष्ठा को हम बनाये रखें और दासता को दूर करें, इसी में दुनिया की समृद्धि निहित है। आत्मिक बल के समक्ष दुनिया की कोई ताकत नहीं है। महात्माजी इस समय त्याग और आत्मबल के सहारे ही महापुरुष बने हैं।

भले ही हमारे पैरों में जूते न हों, सिर पर साफा न हो, और भले ही खाने को न मिलता हो, इसके बावजूद भी अगर हम अपने आत्मिक बल पर व्यवसाय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं तो कोई भी हम से बढ़कर नहीं है।

हम किसी को कोहनी न मारें, या कोई असभ्यतापूर्ण व्यवहार न करें, बस अपने तेज को और ज्ञान को दूसरों में भर दें, हम योग्य शिक्षक कहलाने लगेंगे।

भले ही कोई देखे या न देखे तब भी हम अपने धर्म का पालन करते हैं। सूर्य और चन्द्र सामने साक्षी न हों तब भी पाप कर्म नहीं करते, वैसे ही हमें अपने शिक्षक-धर्म को लेना है। भले ही हमारे पास पैसे हों या न हों, हमारा मान हो या न हो, अनुकूलता हो या न हो, तब भी हमें इस धर्म का पालन करना है।

जिस तरह से सच्चे नेमधारी ब्राह्मण को कोई देखता हो या न देखता हो लेकिन वह जूते पहन कर या स्नान किये बिना खाना नहीं खाता, इसी तरह हमें भी अपना परम धर्म निभाना चाहिए। दुनिया देखे या न देखे, लाभ हो या न हो, पर सच्चे ब्राह्मण की तरह हम अपने धर्म का पालन करें।

क्या बालक को मार-पीट कर पढ़ाना धर्म है? इस समय देश में जो शिक्षा पद्धति चल रही है, उसे देखकर तो सचमुच शर्मिंदगी हो आती है। हम परिणाम लाने के लिए बंधे हुए है, पेट के खातिर अकेले धर्म से टिके नहीं रह सकते। कइयों की धारणा है कि मार-पीट करने से ज्ञान आता है और परिणाम भी अच्छा रहता है, पर यह अत्यन्त भ्रामक धारणा है। इससे कभी कोई लाभ नहीं होने वाला। दंड देने का पापपूर्ण आचरण करने से शिक्षा में जरा-सा भी लाभ नहीं होगा। ऐसा करने से बालकों की बुद्धि नहीं बढ़ती। अगर ऐसा करने से ही बुद्धि बढ़ सकती हो तो किसी भी बेवकूफ को मार-पीट कर बुद्धिमान बना सकते हैं। और हमें भी अपने अब तक के बौद्धिक विकास के लिए मार खानी चाहिए। पर वस्तुतः यह सोच ही बिल्कुल गलत है। कोई यह तर्क देता है कि सजा देकर शैतान लड़कों को शांत बनाया जा सकता है, पर यह शांति टिकेगी कब तक? किसी बलवान व्यक्ति के सामने बंदूक धरी रखें तो वह घड़ी भर के लिए ही शांत रह पाएगा। सजा देकर हम बालक को गुलाम बनाना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है।

इस समय देश अंधेरे के दौर से गुजर रहा है। लेकिन हमें अपने बालकों को आने वाले कल के बालक समझना चाहिए। उन्हें अनन्त भविष्य का भविष्य मानकर चलना चाहिए। ऐसा करने की बजाय उन्हें दबा डरा कर अगर सवाल मौखिक कराते हैं तो क्या यह अच्छा समझा जाएगा? मार-पीट करने से तो मार-पीट करने

वाले बालक ही पैदा होंगे। वे हमारे सामने नहीं बोलेंगे, पर औरों की निर्बलता का लाभ उठाकर वे हमारे जैसे ही बनेंगे।

मैं यह मान कर चलता हूं कि बहुत सारे अध्यापक अब भी मार-पीट करते हैं। अगर हममें ताकत है तो अपने से बड़े के सामने लड़ाई में उसे आजमायें या फिर कमजोर की रक्षा में उसका प्रयोग करें, पर नन्हें बालकों को मारने में कभी न करें। इसमें कोई बहादुरी नहीं है। शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से भी इसमें नीति या समझदारी नहीं है, अपितु नुकसान ही है।

शिक्षण की ऐसी बदी अनेक लोग चलाते हैं। अच्छे पढ़े-लिखे गणमान्य शिक्षक भी इसे नहीं भूल पाए। अगर हमें आगे बढ़ना है तो इसे बिल्कुल त्यागना होगा। तभी इसका मजा आएगा। पहले मैं भी दंड देने में आस्था रखता था, पर अब इस संबंध में अपने विचार निश्चित कर चुका हूं और अब मुझे दंड देने वाले व्यक्ति पर तरस आता है।

आप में से जो लोग सजा को छोड़ने के विरुद्ध हैं उन्हें तो क्रोध ही आएगा, पर जिन्हें इससे होने वाली हानि की बात समझ में आ गई, वे तो इसे छोड़ेंगे ही।

हमारी शालाओं में सजा देने की ही एक बुराई नहीं है अपितु बालकों को रटाना, गलत ढंग से पढ़ाना, इनाम या लालच, ऐसी-ऐसी बुराइयों की तो सीमा ही नहीं है। अगर यही सब जारी रहा तो शिक्षण सुधरेगा नहीं, न उस पर प्रकाश ही पड़ेगा।

अब मैं दो-एक सूचनाएं देने की अनुमति चाहता हूं। कई बार हम कोई दिशा निर्धारित किये बिना भटकने लगते हैं, अंधेरे में पड़े-पड़े अनेक भूलें करते हैं और अपने व्यवसाय से संबंधित पर्याप्त जानकारी के अभाव में घोटाला करते हैं। मैं आप सबसे

सिफारिश करता हूं कि शिक्षण का सतत अभ्यास करें। कम वेतन, बच्चों-कच्चों का भरण-पोषण और परंपरागत गरीबी तो हमारे भाग्य से चिपकी हुई ही है, परन्तु दुख के पीछे ही सच्चा सुख छुपा हुआ है। ऐसी स्थिति का लाभ लेना ही चाहिए। गरीबी से कत्तई न डरें। मैं तो कहता हूँ कि ईश्वर की कृपा है कि हम सामान्य स्थिति में हैं। साधारण लोग ही उच्च स्थान पर जा सकते हैं। हल्का वर्ग ईश्वर के पास जाने में पहले तैयार होगा। अंत्यज सुधर जाएं तो ब्राह्मण कौड़ी के जैसा हो जाए। हम तो आचार, विचार, मन, वाणी तथा कर्म से अंत्यज बनते जा रहे हैं।

कंधे पर शानदार दुपट्टा डाल कर किसी शोभा यात्रा में हम न जा सकें, इसकी कोई परवाह नहीं। ऐसे मिथ्या मोह में न पड़ते हुए अगर हम अपने मन को स्वस्थ रख कर व्यवसाय को अंगीकार करें, उसके पीछे पागल होकर पड़ जाएं तो पैसे हमारे पैरों तले कुचले जाएंगे, ऋद्धि सिद्धि हमारे यहां पानी भरेगी और जो भी चाहेंगे, वही मिलेगा—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

हम स्वयं को हल्का न मानें और अपने व्यवसाय को उपासना के स्तर पर लें। शरीर तथा मन की तमाम ताकतों को रोक कर हमें यही विचार करना है कि अपने काम को अच्छे से अच्छा कैसे करें!

कोई गरीब अपनी रोटी में से आधा हिस्सा दान में दे दे तो उसका मूल्य किसी राजा के आधे राज्य के समकक्ष आंका जाता है। हमारी साधारण-सी स्थिति में ही अगर हम सच्ची भावना से सेवा करेंगे तो यह आधी रोटी वाला पुण्य एक महायज्ञ जितना फलदायी बन जाएगा। ऐसा करने पर हमारे व्यवसाय की उन्नति होगी और मरने के बाद भी हमारा कल्याण ही होगा।

ऐसा करने पर ही हमें शिक्षा-मंदिर निर्मित करने तथा समग्र जीवन को उज्ज्वल बनाने का पुण्य मिल पाएगा। अपनी गरीबी को देखते हुए भले ही आप ट्यूशन करें या शाला के अन्य काम करें, पर वे सब आपके व्यवसाय की महत्ता में वृद्धि करने वाले सिद्ध हों। उनको लेकर परेशान होने की जरूरत नहीं है कि 'इस पचड़े में क्यों फंसें?' ऐसा मानकर न किया जाए। अपने व्यवसाय पर आह्लादित और गर्वान्वित रहेंगे तो स्वतः जान जाएंगे कि इसे क्यों कर सुधारा जाए। फिर तो निबंध, व्याकरण और सारी ही बातें समझ में आ जाएंगी। भाषा संबंधी परेशानी फिर नहीं रहेगी।

अब दूसरी बात।

हमारा शिक्षण कर्म और विचार-बल संघ-बल पर ही टिका रह सकता है और इसी से इसमें वृद्धि हो सकती है, अतः व्यावसायिक उन्नति के लिए सभी कार्यकर्त्ता शिक्षकों को एक शिक्षक-संघ बनाना चाहिए और उसमें चर्चा-परिचर्चाएं आयोजित करके शैक्षिक विचारों का संवर्द्धन करना चाहिए। वहां रोजाना जाने की प्रतिज्ञा की जाए, शिक्षण संबंधी पुस्तकें पढ़ी जाएं और सर्वोत्तम विचारों का विनिमय किया जाए। ऐसा करने पर परिणाम अच्छा ही आएगा।

अच्छा क्या है, यह सब जानते हैं, पर इस पर बहुत कम परिमाण में आचरण किया जाता है। हमें विभाग का मिथ्या भय नहीं रखना चाहिए। जब हम कोई अभिनव काम कर बतायेंगे तभी विभाग की आंखें खुलेंगी। सामाजिक दुःखों की तरह हमें विभाग की परीक्षा से गुजरना है। कई लोग सोचते हैं कि 'अब क्या है? थोड़ी रही, बहुत गई। जैसा चलता है चलने दें।' लेकिन यह धारणा अत्यन्त भ्रामक है। जहां से समझ में आए, अच्छे काम की

शुरुआत वहीं से कर देनी चाहिए। शेष वर्षों को अच्छी तरह से बिताकर जीवन को स्वीकार करें, इसका लेखा पुनर्जन्म में हमें अवश्य मिलेगा।

अगर हम इस तरह अपना वास्तविक धर्म समझेंगे तभी राजा के और बड़े लोगों के पुत्रों को विद्यालय आने की जरूरत पड़ेगी। इसी तरह तमाम किलों पर विजय पाई जा सकेगी, तब भला दुनिया कहां बचेगी ?

मनुष्यता आएगी तो सभी कुछ आएगा। मुख्य बात है उत्साह, उद्योग, त्याग भावना और अपने व्यवसाय का गौरव। कुम्हार को भी अपने व्यवसाय पर गहरा गर्व होता है, यह देखकर जब मैं कहीं व्यवसाय की गौरव-गरिमा से रहित किसी शिक्षक को देखता हूं तो मुझे बड़ी कुढ़न पैदा होती है। वांछित अभिमान से स्वयं को पहचान कर ही हम अपने व्यवसाय को उन्नत कर सकते हैं।

हम भी अपने व्यावसायिक मान को रखते हुए स्वयं को पहचान सकें तो हमारा व्यवसाय अवश्य सुन्दर बन सकेगा।

□

बाल मंदिर के अध्यापकों से

आधुनिक बाल-शालाओं का चित्र

हमारी बाल-शालाओं की इस समय कैसी दयनीय दशा है, यह आप सब जानते हैं। उनके भवन हवा और रोशनी से रहित हैं, उनके अध्यापक बंधुओं को मात्र पेट भरने जितनी पगार ही मिलती है; विषय, ज्ञान और शिक्षण पद्धति संबंधी उनके विचार अत्यन्त हीन होते हैं; समाज में उनकी स्थिति अत्यन्त निम्नगामी होती है। बाल-शालाओं के बालकों को देखें तो वे दबे, डरे, पद-दलित, गंदे, प्राण विहीन, मनुष्य के रूप में चेतना-रहित प्राणी दिखाई देंगे। बाल-शालाओं के पास से निकलें तो जातीय भोज के समय जैसा असहनीय शोर-शराबा सुनते रहे हैं, वैसा हो-हल्ला सर्वत्र व्याप्त मिलेगा। और अगर बाल-शालाओं के अंदर जाकर देखें तो हृदयहीन, प्रेमहीन, फटेहाल, कंगाल अध्यापक बालकों की स्वाभाविक उत्कंठा को दबा देने की अति मूल्यवान और कठिन शिक्षा देते नजर आएंगे। चारों तरफ नजर उठाकर देखें तो शिक्षण-उपकरण शायद ही दिखाई देंगे। एकाध बोर्ड, एकाध चाक का टुकड़ा, डंडा और घंटा– यही सब शाला के शिक्षण उपकरण होंगे। बालकों की पंक्तियां दर पंक्तियां कुछ न कुछ जरूरी व्यापार करती दिखेंगी। यही स्थिति है हमारी बाल-शालाओं की।

इस स्थिति से हमें तत्काल मुक्त होने की जरूरत है। बाल-शिक्षण की बुनियाद पर हमें प्राथमिक, माध्यमिक विद्यालय तथा

महाविद्यालयों के भवन निर्मित करने हैं। हमारी सच्ची परीक्षा, कीमत और दक्षता इसी में निहित है कि इस बुनियाद को ज्यादा से ज्यादा मजबूत बनायें।

अध्यापक क्या कर सकते हैं ?

यह हम कैसे करें ? मेरा यह निवेदन शिक्षक बंधुओं से ही है। यहां मैंने इसी बात का विवेचन किया है कि वे लोग स्वयं क्या कर सकते हैं। ये विचार समस्त बाल-मंदिरों, कच्ची शालाओं, किंडरगार्टन शालाओं, मोंटेसरी शालाओं तथा सात वर्ष की आयु तक के बालकों को शिक्षा देने वाली शालाओं तथा अंकज्ञान, अक्षरज्ञान, एवं बालपोथी का ज्ञान कराने वाली समस्त शालाओं पर समान रूप से लागू पड़ता है।

शिक्षक के रूप में हम बाल विद्यालयों को कुछ ऐसी रीति से सुधार सकते हैं, उन्नत बना सकते हैं।

(1) स्वच्छता रखें

आज की इन शालाओं में हम स्वच्छता का ऊंचा आदर्श स्थापित करें और उसे क्रियान्वित करें-करायें। हम स्वयं साफ-सुथरे रहें और बालकों को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करें। विद्यालय में जब तक कचरा बिखरा हुआ है, टेबिल, बेंच, श्यामपट्ट आदि पर धूल छाई है, चारों ओर मकड़ी के जाले लगे हैं तब तक हम बालकों को अंकज्ञान, अक्षरज्ञान आदि का शिक्षण नहीं दे सकते। विद्यालय में हम एक ऐसा नियम बना दें कि विद्यार्थी स्वयं शाला को झाड़-बुहार कर साफ करें, शिक्षण-उपकरणों को भी पौंछ कर रखें। ऐसा स्थाई रिवाज बनाने के लिए हमें भी बालकों के साथ जुड़ जाना चाहिए। मैले कपड़े पहनने वाले, गंदे हाथ-पैर वाले, बढ़े हुए नाखून और बालों वाले, नाक से बहती गंदगी वाले बालकों को

सबसे पहले हम साफ-सुथरा बनायें, तभी पढ़ने का काम शुरू किया जाए। भले ही माता-पिता सिर्फ अंकज्ञान और अक्षर ज्ञान हासिल करने पर ही जोर देते हों, भले ही वे सिर्फ इसी इरादे से बालकों को शाला में भेजें, पर हम उन्हें सिर्फ इतने तक ही सीमित न रखें। हम उन्हें सूचित कर दें कि गंदे बालकों को शिक्षा नहीं दी जा सकती। गंदे रह कर न वे पढ़ना सीख सकेंगे, न ही हम शिक्षक उन्हें पढ़ा सकेंगे। हम माता-पिता के पास उनके घर जाकर मिलें और उन्हें यह बात समझायें। हम उनसे विनती करें। इसके बावजूद विद्यालय में बालकों के लिए मुंह, हाथ, नाक आदि धोने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। यह भी संभव है कि कभी किसी ने बालकों के माता-पिता का ध्यान साफ-सफाई की तरफ आकर्षित ही न किया हो अथवा शिक्षकों ने माता-पिता को यूँ ही जाने दिया हो और अपने आलस्य के कारण दूसरों में लापरवाही व अज्ञान पैदा किया हो !

विद्यालय के अंदर भले ही आकर्षक चित्र अथवा शिक्षण उपकरण कम मात्रा में हों, पर उसकी स्वच्छता तो भीतर कदम रखने के साथ ही क्षण-क्षण प्रतिबिम्बित हो उठे, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए। अगर ये विद्यालय आज स्वच्छ होंगे तो कल इनमें से पढ़ कर निकलने वाले बालक शहरों एवं समाज को स्वच्छ रखेंगे। अगर आज की शालाएं रोगाणुओं को जन्म देने का स्थान नहीं बनेंगी तो आने वाले कल का समाज रोग-मुक्त होगा। बालकों को हमेशा साफ-सुथरा रखने के लिए माता-पिताओं से तो हम सच्चे मन से अनुरोध करें ही, पर साथ ही शालाओं में भी कुछ सफाई का सामान—झाड़ू, बुहारी, कपड़े के टुकड़े, माटी के कुंडे और प्याले आदि रखें। इस व्यवस्था का अच्छा नतीजा सामने आयेगा। कुल मिलाकर ध्यान में यही रखना है, कि विद्यालय में

स्वच्छता का वातावरण निर्मित करने के लिए हमको और बालकों को मिलकर इस अनिवार्यता को स्वीकार करना होगा।

(2) अक्षर ज्ञान का मोह त्यागो

माता-पिता चाहे जिस कारणवश अपने बालकों को विद्यालय भेजें, हमें उसपर ध्यान नहीं देना। भले ही वे बालकों में घर में शैतानी या गड़बड़ करने की वजह से भेजें। हमें तो बस अपना कर्त्तव्य तय करना है। हमें उनकी भूल को सुधारना है। इधर बालकों को जल्दी से जल्दी अक्षरज्ञान और अंकज्ञान दिलाने का मोह बढ़ता जा रहा है, हमें उस मोह को तोड़ना है। हर कोई शाला में और बाहर एक ही प्रश्न पूछता है: 'इस शाला का अभ्यासक्रम क्या है? इस शाला में बालक क्या पढ़ते हैं? कितना सीखे हैं?' लेकिन कहीं भी इस बात को लेकर पूछताछ नहीं की जाती कि बालकों का विकास कितना हुआ है। हमें इस बात पर ध्यान देना है कि बालकों का सम्मान कैसा है, किस उम्र में वे अक्षर ज्ञान और अंकज्ञान ले सकते हैं। बालक की स्वाभाविक वृत्ति और शक्ति को जान कर ही और इसके अनुकूल रह कर ही हम उसे ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। इसलिए 'अंकज्ञान दो' की आवाजें हम हर्गिज न सुनें। हमारे विद्यालय में अंकज्ञान व अक्षर ज्ञान कराया जाएगा अवश्य, लेकिन वह सही समय पर। भले ही छह घंटे तक की लम्बी अवधि तक बालकों को शाला में रखें। माता-पिता इसी को पसन्द करते हैं। उनसे लड़कों को घर में रखा नहीं जाता, पर हम क्यों माता-पिता जैसी गलती और क्रूरता बरतें। हमें बालक की वृत्ति जान लेनी चाहिए। बालक अभी तो प्रकृति की गोद में है। मनुष्य की तुलना में प्रकृति के साथ उसका संबंध ज्यादा है। अभी उसे प्रकृति की गोद में खेलना है, समस्त इन्द्रियों को विकसित करना है तथा समाज का

अच्छा-खासा परिचय प्राप्त करना है। इन सब का शिक्षण अंकज्ञान और अक्षरज्ञान के शिक्षण में आ नहीं जाता। बाल-शालाओं के बालकों का सच्चा शिक्षण शरीर के विकास में है, समस्त इन्द्रियों के द्रुत विकास में है। अनुभव तथा अवलोकन पर दुनिया का परिचय कर पाना सम्भव है। इसलिए शाला-समय का अधिकांश भाग बालकों के मनोविनोद के लिए रखा जाना चाहिए। किंडर गार्टन शालाओं में जिस तरह से खेल खेलाये जाते हैं, उसी तरह सिर्फ खेल खेलाने में ही खेलों की समाप्ति नहीं हो जानी चाहिए। देसी खेलों की जानकारी का जीवन में सम्पूर्ण स्थान है, परन्तु बालक अपने खेल अपने आप तलाश कर लेते हैं, यह हमें ध्यान रहना चाहिए। वस्तुत: सभी लोक-क्रीड़ाएं बालकों की मुक्त-क्रीड़ा के परिणाम स्वरूप हैं। बालकों को अमुक मर्यादा के क्षेत्र में मुक्त छोड़ देना चाहिए। फिर भले ही वे चाहें जो खेल खेलें। उनका शांति पूर्वक घूमना-फिरना, कूदना, दौड़ना, ढूंढना या बातें करना, सभी कुछ उनके खेल है। ये सब उनके उस अवस्था के जीवन हेतु आवश्यक है अत: उन पर उनका अधिकार है। इन मुक्त खेलों से थोड़े ही समय में वे जितना कुछ सीख लेते हैं उतना विद्यालय में कोशिश करके भी नहीं सीख सकते। बालक पृथ्वी, जल, प्रकाश, सूर्य, पवन, वृक्ष आदि के परिचय में आएगा, उनके जीवन में अपना जीवन सम्मिश्रित करेगा और उनके हृदय में भूगोल के, भूत काल के, भूमिति के, खगोल के, विज्ञान के अनेक नन्हें पाठ भर जाएंगे। ये सब याद रखने के लिए उन्हें घोकना नहीं पड़ेगा और इन्हें कभी भूल भी नहीं सकेंगे। विद्यालय में तो सिर्फ वही सिखाया जाना चाहिए कि जिसे बाहर से सिखाने में असुविधा हो। 'ऐन धेन डाहीनो घोड़ो', 'संताकलो दाव', 'छोकरां रे हांरे', 'मोनी ठेकामणी', 'आंधळो पोटो',

'घोड़ी ठेकामणी', 'हनुमान कूदको', 'अंगद कूदको' तथा 'गणगण बोशलो' आदि अनेक खेल बालकों को खेलाये जा सकते हैं। इस तरह की एक अलग सूची बना लेनी चाहिए। गांव के पास की जगहें—तालाब, कुएं, नदी, टेकड़ी, देवालय, बाग-बगीचे, शहर के विशाल भवन, संग्रहालय, पुस्तकालय, दूसरे विद्यालय आदि अवलोकन तथा मनोरंजन के स्थान हो सकते हैं। इन स्थानों पर बिताया हुआ समय कभी बेकार नहीं जाता।

(3) दंड और लालच को दूर हटाओ

हम देख रहे हैं कि हमारा देश निडरता में तथा लालच-रहितता में पिछड़ा हुआ है। भय और लालच हमें अपने वशीभूत कर सकते हैं। भय और लालच पर ही राज्य-सत्ता और मनुष्य-सत्ता टिकी रही है और गुलामी की रस्सी मजबूत रही है। हमारी शिक्षा का निर्माण भी भय और लालच याने दंड और पुरस्कार पर हुआ है। भय और लालच के पाठ हमें बचपन से हमारे विद्यालयों से ही पढ़ने को मिलते रहे हैं। भय और लालच के वातावरण वाली शालाएं हमें गुलामी के लिए तैयार करती हैं, जबकि स्वतंत्र होने और बने रहने की आकांक्षा रखने वाला देश अपनी शाला में ऐसी परिस्थिति एक क्षण के लिए भी सहन नहीं कर सकता। इस समय शाला और शाला का अध्यापक 'हाऊ' बन गए हैं, बालकों को ज्यादा से ज्यादा भय किसी का है तो शिक्षक का! सपनों में भी डरावने सपने आते हैं अध्यापक के और डंडे के! घर के बालक शैतानी करते हैं तो 'मास्टर जी को कह दूंगी'- यही धमकी दी जाती है। विद्यालय जाने का नाम लेते ही बालक का मुंह उतर जाता है और छुट्टी है, ऐसा कहते ही वे आनंद से भर उठते हैं। हमें इस स्थिति से मुक्त होना चाहिए तथा बालकों को एकदम मुक्त करना चाहिए। दंड या पुरस्कार के बिना बालक

अनुशासन में नहीं रहते—इस मान्यता जैसी भ्रांति एक भी नहीं है। दंड के भय से तभी तक अनुशासन रहता है, जब तक दंड का भय स्थिर रहता है। ज्योंही दंड का भय चला जाता है त्योंही अनुशासन गायब हो जाता है। दंड का भय स्थिर नहीं रह सकता अतः अनुशासन की गुत्थी का कभी समाधान नहीं किया जा सकता उल्टे, नशेबाज को जिस तरह रोजाना नशे की मात्रा बढ़ाने पर ही नशा चढ़ता है उसी तरह जैसे-जैसे दंड की मात्रा को बढ़ाया जाएगा वैसे-वैसे ही दंड का प्रभाव बना रह सकेगा। अंततः दंड का भय बिल्कुल ही चला जाता है और दंड की प्रभावोत्पादकता समाप्त हो जाती है। इसी सिद्धांत के अनुसार जो व्यक्ति एक बार जेल हो आता है उसके मन में जेल आसान चीज हो जाती है। इसीलिए अब जेलों के बजाय उद्योगशालाएं बनाई गई हैं। अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार करने वाली हमारी शालाओं द्वारा बालकों को सजा कभी नहीं दी जा सकेगी। सजा देना पाप है। यह हमारी दुर्बलता का ही परिणाम है। जिनमें सामना करने की कत्तई ताकत नहीं, उन पर हाथ उठाने जैसी नामर्दगी भला और क्या होगी! नामर्दगी के कृत्य से कभी लाभ नहीं होने का। मनोवैज्ञानिक या शरीर-वैज्ञानिक दृष्टि से सजा का कोई अर्थ नहीं है। सजा से न ध्यान एकाग्र होता है न बुद्धि विकसित होती है, ऐसा मनोविज्ञानवेत्ताओं का कथन है। डॉक्टरों का कथन है कि सजा से न बुद्धि विकसित होती है, न स्मरणशक्ति। न ही शिक्षा से इसका कोई सम्बंध है। सजा सर्वथा त्याज्य है अतएव हमारे विद्यालयों से इसका बहिष्कार होना ही चाहिए। सजा बंद कर देंगे तो बालक अनुशासित कैसे रह पाएंगे, इस चिंता में पड़े अध्यापक के सामने और अनेक रास्ते हैं। अगर हम सजा देने के पाप से बचना चाहते हों और भावी नागरिकों को इस पाप से बचाना चाहते हों तो

बालक को सजा कदापि न दें। यहां सजा का अर्थ शारीरिक सजा से ही है। इससे अगर हम उबर जाते हैं तो समझो कि बहुत हुआ।

लालच भी सजा के समान ही बुरी चीज है। यह हमें गिराने वाली चीज है। बचपन से ही जब लालच देकर काम करने की बालक की आदत पड़ जाती है तो वह लालच दिये बिना कोई भी काम नहीं करता। याने वह कर्त्तव्यपरायणता को नहीं समझ सकता। कदाचित समझ भी ले तो अपने भीतर उसे अमल में लाने की शक्ति नहीं ला सकता। मुहावरे के बतौर हम कहा करते हैं कि 'पैसे मिलें तो काम पूरा हो' या 'जितना गुड़ डालेंगे उतना ही मीठा होगा।' इसका कारण है हमारी शालाओं की इनाम पद्धति, अंक देने की पद्धति, परीक्षा की पद्धति। बदले में कुछ हासिल किये बिना हम काम भी नहीं करते, ऐसी जो हमारी मनोवृत्ति बन गई है यह लालच पर आधारित हमारी शिक्षा पद्धति की ही देन है। आजकल दुनिया में वैश्य-वृत्ति है, जीवन अत्यंत स्पर्धामय हो गया है और जीवन-कलह स्थिर हो गया है—इनका मूल कारण हमारी शालाएं हैं। उसी ने हमें इस ओर धकेला है। हममें सत्य के लिए सत्य और प्रेम के लिए प्रेम नहीं है। इसका कारण यह है कि अध्ययन के लिए हमने अध्ययन नहीं किया अपितु परीक्षा के लिए, इनाम के लिए, अंक प्राप्ति के लिए, वाहवाही हासिल करने के लिए किया।

(4) अपने व्यवसाय का पूरा ज्ञान रखें

विद्यालयों से अंक देने, पास-फेल करने, परीक्षा परिणाम निकालने का रिवाज दूर किया जाएगा और इनके स्थान पर पढ़ाई में उत्साह पैदा करने वाली शिक्षण-विधियां काम में ली जाएंगी तो हम लालच के पाप से जरूर बच जाएंगे। सजा और

लालच दिये बिना अध्यापक अपनी कक्षा में अनुशासन कैसे बनाये, कैसे विषय-ज्ञान कराये, यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। यदि अध्यापकगण अपने व्यवसाय के निमित्त कतिपय ऐसे अनिवार्य गुणों को प्रयत्नपूर्वक हृदयंगम कर लें तो उक्त प्रश्न खड़ा ही नहीं होगा। वे गुण हैं—अपने विषय-शिक्षण का ज्ञान, बालक के प्रति प्रेम व सहानुभूति तथा अपने व्यवसाय के गौरव की समझ और साथ ही साथ अपने कर्त्तव्य का बोध। चाहे हमको पूरा वेतन मिले या न मिले, चाहे लोकमत हमारे पक्ष में हो या विरुद्ध, चाहे हमारा सम्मान होता हो या नहीं, परंतु हमें तो अपने व्यवसाय में कुशल होना ही चाहिए।

हमारा भी एक व्यवसाय है। हमारे आलस्य और नासमझी के कारण आजकल लोगों में इसे वांछित स्थान नहीं मिल पा रहा है। पर हमारे इस व्यवसाय को अन्य तमाम व्यवसायों की तुलना में ऊंचा स्थान प्राप्त है, और यह ऊंचा स्थान लेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः हमें भी इसके अनुरूप योग्य बनना है। हमें अपने मन से यह भावना निकाल देनी चाहिए कि बाल-वर्ग याने नगण्य-प्राय वर्ग। शिक्षक समुदाय में अधिक से अधिक जिम्मेदारी बाल-वर्ग को संभालने वाले शिक्षकों की है। अधिक से अधिक मुश्किल काम नन्हें बालकों को शिक्षित करने का है। लेकिन जिन बालकों को जो बातें पढ़ानी हैं उन विषयों का हमें अच्छा ज्ञान हो और उन्हें पढ़ाने की पद्धति से हम वाकिफ हों तो यह काम अत्यंत आसान हो जाता है। अपने काम के लिए अधिक से अधिक तैयारी बाल-शिक्षक को करनी है। अक्षरज्ञान तथा अंक ज्ञान का शिक्षण देने के लिए इन विषयों पर लिखी गई सभी पुस्तकें उसे पढ़ लेनी चाहिए और उनके आधार पर परिणाम जानकर अपना नया रास्ता निकालना चाहिए। बालक को पट्टी पर 'क' मांड दिया

और उसी पर बरता चलाने को कह दिया, या अंक ज्ञान के लिए मुहारनी बोलाना शुरू कर दिया तो उसे छह या बारह महीने में अक्षर ज्ञान तथा अंकज्ञान हो जाएगा, ऐसी मान्यता हानिप्रद है। बालक भले ही चाहे जिस ढंग से सीखे, पर हमें तो यह बात जानने का सतत अभ्यास और अनुभव हासिल करना ही होगा कि कौनसी विधि अपनाने से वह शीघ्र सीखेगा, स्वाभाविक गति से सीखेगा और किसी तरह का नुकसान भी नहीं होगा।

अध्यापक हमेशा स्वयं को विद्यार्थी मानकर चलेगा तो वह अच्छा अध्यापक बन सकेगा। विषय का ज्ञान होने के साथ-साथ उसे शिक्षण पद्धति का भी ज्ञान होना चाहिए। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है। गलत या सही हर किसी पद्धति से बालक तो सीखेगा ही, लेकिन उसमें उसकी शक्ति का कितना ह्रास होगा, इस पर विचार किया जाना चाहिए। आजकल अक्षर ज्ञान कराने वाली पद्धति कितनी अधिक खराब है इस पर भी हम विचार करें। बालक को पट्टी पर अक्षर घोंटने का काम देकर या अक्षर मंडा कागज दिखा कर, या अक्षर के साथ चित्र दिखा कर या अक्षर के अंशों को इकट्ठा करके याने खंड पद्धति से अक्षर बताने की विधियां प्रचलन में हैं। हाथ के स्नायु कलम को पकड़ने हेतु तैयार हों उससे पहले ही बालकों से अक्षर घोंटाने की क्रिया शुरू कर दी जाती है। जिस प्रकार जानवर से प्रौढ़ और परिपक्व होने से पहले ही भार ढोने का काम लिया जाता है तो वह जानवर कमजोर हो जाता है, सूख जाता है, उसी प्रकार अकाल ही माने स्नायुओं का विकास होने से पहले ही अक्षर घोंटने की क्रिया कराने से बालक की शक्ति सूख जाती है, विकृत हो जाती है। भले ही उस क्रिया से बालक को अक्षर लिखना आ जाए, पर उसकी अन्य अनेक शक्तियों का नाश हो जाता है। अक्षर को लिखने में दो प्रकार की क्रियाएं काम

करती हैं। एक—अक्षर को पहचान कर उसे दिमाग में ले जाना और फिर से बाहर लाना, और दूसरी—अक्षर को कलम से कागज या पट्टी पर लिखना। ये दोनों क्रियाएं अलग-अलग साधी जानी चाहिए। दोनों क्रियाओं को सही ढंग से आजमाया जाएगा तभी कहा जाएगा कि अक्षर-ज्ञान शास्त्रीय रीति से दिया गया है, अन्यथा नुकसान संभव है। जब बालक से पट्टी पर अक्षर घोंटाया जाता है तो इस क्रिया में दोनों क्रियाएं एक-साथ गूंथ दी जाती हैं, परिणाम स्वरूप शक्ति का विकास होने की बजाय वह अवरुद्ध हो हो जाती है। अक्षर छपा हुआ कागज दिखाकर अक्षर सिखाने में पूरा बोझ आंखों पर आ जाता है। डॉक्टरों का अभिमत है कि बाल्यावस्था में आंखें कच्ची रहती हैं, अतः फकत आंखों द्वारा ज्ञान लेने की पद्धति हानिकारक है। साथ ही साथ कागज का छोटा-सा आकार और अक्षर की भौंडी-बेडौल मरोड़ तो नुकसान करेगी ही। चित्र के साथ अक्षर सिखाने से अक्षर आसानी से याद रहता है पर अल्प वय में उससे आंख पर अधिक आघात लगता है और आगे चलकर वाचन में एक तरह की पशोपेश पैदा हो जाती है—परिणामतः समझते हुए पढ़ने का काम कुछ समय के लिए रुक जाता है। इस तरह से सीखने वाला बालक 'न न नगारा' —इस प्रकार पढ़ता है। अध्यापक बंधु तो यह बात जानते ही होंगे। खंड-पद्धति एकदम बेकार है। बालक संयोगीकरण पद्धति से सीख सकता है। बड़ों के लिए पृथक्करण पद्धति अनुकूल पड़ती है। अक्षर के हिस्से अलग करना और फिर उनसे अक्षर बनाकर सिखाना बाल स्वभाव के हिसाब से सीखने की गलत पद्धति है। मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार बालक सम्पूर्ण चीज को अपनी आंखों में भर कर सीखने का प्रयत्न करता है, चीजों के टुकड़े-टुकड़े करके नहीं। इससे तो आसानी के बजाय मेहनत ज्यादा

पड़ती है। और भी कई त्रुटियां हैं इस पद्धति में, लेकिन उनके बारे में विस्तार से यहां चर्चा करना अप्रासंगिक हो जाएगा।

बालक को अक्षर ज्ञान कराते समय आंख और स्पर्श का एक साथ उपयोग होना चाहिए। बालक में पढ़ने की रुचि जाग्रत करने के लिए चित्रों आदि का आकर्षण पैदा करने पर उनका ध्यान कहीं और बंट जाएगा अत: चमत्कृति से बचाते हुए उन्हें अक्षरों की पहचान का अवसर दिया जाना चाहिए। मोंटेसरी ने शास्त्रीय नियमों का अनुसरण करते हुए अक्षरों और उन्हें सिखाने की योजना ईजाद की है। उसका उपयोग करेंगे तो हमें बहुत लाभ मिलेगा और बालक को कोई नुकसान भी नहीं होगा। जिस तरह की अव्यवस्था, भ्रांति और अशास्त्रीयता अक्षर ज्ञान सिखाने में है वैसी ही वाचन के क्षेत्र में भी है। वर्तमान वाचन समझदारी का वाचन नहीं है। वाचन-शिक्षण पद्धति के अन्य तमाम दोषों में सबसे बड़ा दोष है यह। अधिकांशत: तो यह दोष अक्षर-ज्ञान सिखाने की पद्धति से ही उद्भूत होता है। इस दोष को बड़ी आसानी से दूर किया जा सकता है। कहने का आशय इतना ही है, कि हमें विषय से वाकिफ रहना चाहिए तथा पढ़ाने में अद्यतन एवं शास्त्रीय पद्धति का ही उपयोग करना चाहिए। इसी पर शिक्षण व्यवसाय का सम्मान एवं गौरव अवलंबित है।

(5) बालकों के प्रति प्रेम रखो

अन्य गुणों में बालकों के प्रति प्रेम, उनके प्रति सहानुभूति, बालकों के माता-पिता के साथ संबंध, बालकों की भलाई के लिए सहयोग देने की जानकारी व इच्छा, हमारे धर्म एवं कर्त्तव्य का ज्वलंत खयाल आदि है। जिस शिक्षक में बालकों के प्रति प्रेम नहीं, सहानुभूति नहीं, वह शिक्षक ही नहीं है। ऐसा व्यक्ति अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। बालकों के प्रति प्रेम और सहानु-

भूति एक ऐसी अद्भुत कुंजी है कि जिससे बाल-हृदय के कपाट खोले जा सकते हैं और उनमें शिक्षक अपना स्थायी आवास बना सकता है। प्रेम के वशीभूत तो सारा संसार ही है और बालक तो विशेष रूप से प्रेम के वशीभूत होता ही है। स्नेही अध्यापक बालक को क्या नहीं दे सकता? लेकिन प्रेम का अर्थ अभद्रता नहीं, प्रेम याने बालक की खुशामद नहीं। प्रेम याने बाल जीवन में आनंद, बाल विकास की चिंता, बाल जीवन के विकास में श्रद्धा और विश्वास। प्रेम याने बाल विकास में आनंद और कृतकृत्यता।

(6) माता-पिता की सहायता प्राप्त करो

जब तक बालकों के माता-पिता हमें शिक्षा के काम में सहयोग नहीं देंगे तब तक हमें अपनी मेहनत का अधूरा फल ही मिल पाएगा। हमें बालकों के माता-पिता से मिलते रहना चाहिए, उनसे बालकों के बारे में विचार विनिमय करना चाहिए, उन्हें बालक की भलाई के लिए अच्छी बातें बतानी चाहिए, भाषण देने चाहिए और पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित करनी चाहिए।

(7) निष्ठा और विश्वास रखो

अंतत: हमें यह जानना चाहिए कि हमारा धर्म क्या है। हमें यह पता होना चाहिए कि हमारा धर्म क्या है। भावी नागरिकों को बनाने वाले हम हैं, यह बात हमें हमेशा स्मरण रहनी चाहिए। हम में अपने व्यवसाय के प्रति यह दृढ़ भाव होना चाहिए कि हमारा ही व्यवसाय संसार के उद्धार के लिए है। हमीं पर देश की भावी आशा और उत्थान निर्भर है। अगर आज हम आलस कर गए या अपना कर्त्तव्य निभाने में चूक गए तो हमारी व हमारे देश की स्थिति दुनिया में कहीं नहीं रहेगी, यह बात चौबीसों घंटे हमारे दिमाग में घूमनी चाहिए। हम सब काम पूर्ण कर सकेंगे – ऐसा दृढ़ विश्वास होगा तो भगवान हमें मदद देंगे– ऐसी श्रद्धा रख कर हम अपना काम उत्साह से सम्पन्न कर सकेंगे। □

अध्यापक शाला कब छोड़े ?

अध्यापक को हमेशा इस बात पर विचार करना चाहिए कि वह स्कूल में पढ़ाने का काम कब बंद करेगा और कब दूसरा व्यवसाय ग्रहण करेगा। इस तरह का रोज विचार करने वाला अयापक या तो स्थाई रूप से हमेशा के लिए अध्यापक बन जाएगा या फिर अध्यापक न रह कर अच्छा व्यापारी, नौकर या कुछ और बन जाएगा। शिक्षक के व्यवसाय में कई बार लोग भूल से चले आते हैं।

शिक्षक रोज अपने आप से यह पूछे कि 'क्या मुझ को पढ़ाना आता है ? क्या मुझको पाठयवस्तु का ज्ञान है ? क्या मेरा शिक्षण रोचक एवं सफल है ? क्या मुझको भय अथवा मिथ्या लालच देकर लड़कों को वश में रखना पड़ता है ? क्या मुझको एक ओर माता-पिताओं की तथा दूसरी ओर अधिकारी वर्ग की खुशामद करनी पड़ती है ? क्या मैं अपने उदार से उदार विचारों के अनुसार शिक्षण देने में समर्थ हूं ? क्या मेरा विभाग मुझको अच्छी तरह से शिक्षण देने की स्वतन्त्रता और अनुकूलता प्रदान करता है ? मैं अपने विद्यार्थियों को सच्चा मनुष्य बनाने की शिक्षा देता हूँ या अशक्त एवं नामर्द बनने की शिक्षा देता हूं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि इस व्यवसाय द्वारा मेरा अच्छी तरह से गुजारा नहीं चलता और आलसी होने के कारण मैं दूसरे व्यवसाय की तलाश नहीं करता ? मैं अध्यापक का जीवनयापन करता हूं अथवा उसके विपरीत ? मैं काम चलाऊ रास्ते पर चलने वाला शिक्षक हूं अथवा सचमुच खरा शिक्षक बनने की मेरी आकांक्षा है ?'

इन प्रश्नों के उत्तर हमें स्वयं तलाश करने चाहिए और अगर यह उत्तर सामने आए कि हम इस व्यवसाय में रहने के योग्य नहीं हैं तो हमें इसको छोड़ देना चाहिए। अगर हम स्वयं ऐसा नहीं करेंगे तो हमने नौकरी छोड़ देने का आदेश देने वाले मिल जाएंगे। □

हम किसके विरुद्ध लड़ें ?

जब जब मैं अपनी प्राथमिक शालाओं पर दृष्टिपात करता हूं तब तब मेरा हृदय दुःख से भर जाता है और कई दिनों तक मैं उदास रहता हूँ।

कुछ अर्से पहले मैंने एक प्राथमिक शाला देखी थी। मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि इतनी भयंकर गन्दी प्राथमिक शाला भी कभी हो सकती है। पूरा आंगन कबूतरों की बींटों से सड़ा हुआ था और उन्हीं पर बालक चल-फिर रहे थे या बैठे थे। कबूतर की बींटों की बदबू में ही अध्यापक और विद्यार्थी सांस ले रहे थे।

शाला के प्रांगण में और भीतर कागजों के डूचे और कबूतर के घोंसलों का कचरा इधर-उधर उड़ रहा था। दुर्भाग्यवश बकरी का एक बच्चा कक्षा में टहल रहा था। कंपाउंड में एक गधा भी खड़ा था।

विद्यालय की दीवारें जैसे अब गिरी तब गरी। मकड़ी के जालों का तो पार ही न था। ऊपर से पुराने लकड़ों का कचरा नीचे गिर रहा था।

एक और विद्यालय देखने की भी याद ताजा है। वह एक अंधेरी कोठरी मात्र थी। उसका आंगन सीलन भरा था अतः बदबू मारता था, हवा और रोशनी का वहां अभाव था। उस कमरे में लड़के यूं भरे हुए थे मानो किसी गाड़े में कुत्तों को बेरहमी से ठूंस दिया गया हो। उनके कपड़े भला स्वच्छ कैसे रह सकते थे। हर तरह से सुन्दर स्वास्थ्य को विकृत बना डालने वाला वातावरण था।

एक तीसरी शाला देखने की भी स्मृति है। चारों तरफ बेतहाशा बदबू फूट रही थी। दूसरी जगह के प्रभाव में पेशाब की वहां नदी बहती थी, पास ही एक उकरड़ी थी जिससे सिर फाड़ देने वाली दुर्गंध आ रही थी।

ऐसी गंदी, हवा और रोशनी से रहित शालाएं बालकों के लिए जीवित नरक हैं, उन्हें पहले ही झटके में रोग का शिकार बनाने वाली भयंकर रोग-शालाएं हैं।

इस सम्बन्ध में मैं आप अध्यापकों को भी जिम्मेदार मानता हूं। आप तर्क देंगे कि विभाग कंटिजेंट नहीं देता, लेकिन मेरा अनुरोध है कि हमें विभाग से लड़-झगड़ करके भी शाला की साफ-सफाई के लिए खर्च प्राप्त करना चाहिए। हम अपनी वेतन वृद्धि की मांग को लेकर लड़ें, यह बात कदाचित आज ठीक न लगे अथवा उसमें हमारा निरा स्वार्थ दिखने लगे; पर स्वच्छता के लिए लड़ना तो हमारा धर्म है और यह धर्म हम नहीं बजायेंगे तो हमें भयंकर पाप लगेगा। अपनी ही आंखों के नीचे हम अपनी प्रजा को, याने बालकों को गंदगी में क्यों रखें ? वे क्षय-रोग के शिकार बन जाएं, भला ऐसी स्थिति में कैसे पढ़ायें ? हम अपने विभाग से साफ-साफ कह दें कि हमें इस पाप में शामिल नहीं होना ! जरूरत आ पड़े तो ऐसी शालाओं में पढ़ाने का काम स्थगित करके बाहर निकल आएं। इस काम में हमको माता-पिताओं का समर्थन मिल जाएगा तथा बालकों के प्रति लोकदया हमारे पक्ष में रहेगी। इस बुराई के विरुद्ध हमें लड़ना ही चाहिए। स्वयं अध्यापक अपने विभाग से विद्यार्थियों के लिए लड़ें—यह जान कर

विभाग क्रोध व्यक्त करने की बजाय उनके मूल्य को समझगा तथा समाज शिक्षकों को ऐसी नि:स्वार्थ चेष्टा के लिए उनका अभिनंदन करेगा।

जिस तरह से हमें बालकों के लिए विभाग के विरुद्ध लड़ना है उसी तरह बालकों के माता-पिता से भी लड़ना है। लड़ने का अर्थ मारपीट करना नहीं है, अपितु पहले हमें दूसरों को समझाना है और उसके बाद उनका सहयोग छोड़ देना है। माता-पिता अपने बालकों को बाल्यावस्था में तुच्छ मान कर गंदे, अस्वच्छ, बिखरे बाल, सड़ी टोपी और बढ़े नाखून, बहती नाक और मैले-कुचैले ही विद्यालय में भेज देते हैं। हम इसे हर्गिज बर्दाश्त न करें। ऐसे बालकों को हम माता-पिता के घर वापिस लौटा देंगे और माता-पिता के विरुद्ध लड़ाई ठानेंगे। यह लड़ाई हमारे स्वार्थ को नहीं, सिर्फ माता-पिता के भले की है। इससे माता-पिता को समझना ही पड़ेगा और उनकी लापरवाही में कमी आएगी। हमीं को इस ओर माता-पिता का ध्यान आकृष्ट करना है और बालकों के संरक्षक के रूप में माता-पिता के विरुद्ध संघर्ष करना है। बालकों को हम तभी पढ़ायें, जब वे स्वच्छ हों, जब माता-पिता उनकी स्वच्छता के लिए पूरा जिम्मा उठायें।

हमारी लड़ाई का तीसरा अंग है माता-पिता को समझाना। माता-पिता बालकों को मारते हैं और लालच देकर उन्हें नियंत्रित करते हैं। हमें उनके पास खुद चल कर जाना है और अनुनय-विनय करनी है कि वे ऐसा न करें। फिर भी यदि वे न माने तो हमें उनका सामाजिक बहिष्कार करने के लिए कमर कस लेनी चाहिए। याद रखें, इसमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं है। इसलिए इस संघर्ष में हमारी विजय होगी। हम अपनी तरक्की चाहते हैं तो और कुछ नहीं तो सिर्फ इतने से काम के लिए तो हम तैयार

हों और बालकों को हर तरह के संकट से उबारने का महान प्रयत्न करें। यह हमारी प्रतिज्ञा होनी चाहिए कि गांव में कोई भी बालक को मारे नहीं,डांटे नहीं, फुसलाये नहीं, डराये नहीं। स्वतन्त्रता पूर्वक बालक स्वयं को संभाले और अपना विकास करे, ऐसी स्थिति लाने के लिए हमें दिन-रात मेहनत करनी है।

□